UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178726

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—552—7-7-66—10,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83·1 J83E Accession No. H64

Author जोशी, शोभाचन्द्र .

Title एकलव्य · 1947.

This book should be returned on or before the date last marked below.

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर सीरीज

एकलव्य

(रेखा-चित्र और कहानियाँ)

लेखक
पं० शोभाचन्द्र जोशी बी० ए०

प्रकाशक
हिन्दी-ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई

प्रकाशक,
नाथूराम प्रेमी
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई

पहली बार
जून, १९४७

मूल्य डेढ़ रुपया

मुद्रक,
कन्हैयालाल शाह,
ओरियण्ट प्रिंटिंग हाउस,
दादीशेठ अग्यारी लेन
नवीवाड़ी, बम्बई नं २

दो शब्द

"आश्चर्य, मनुष्यके समाजमें अनाचारका प्रवेश हो गया है। लोग मानव धर्मको भूल रहे हैं। धर्म, जाति और राष्ट्र तथा वर्ण-भेदके जंजालमें फँसकर मनुष्य पुनः पशुताकी ओर जा रहा है। ज्ञान और शक्तिका उपयोग मनुष्य मात्रके लिए न होकर थोड़ेसे व्यक्ति विशेषोंके लिए होने लगा है। कुछ थोड़ेसे शक्तिसम्पन्न व्यक्तियोंका समूह सारी मनुष्य जातिको पदाक्रान्त करके उन्हें परतन्त्र बनाये हुए है। मैं अपनी शक्तिसे परतन्त्रताके इन बन्धनोंको तोड़नेका प्रयास करूँगा। मनुष्य और मनुष्यके बीच जो दीवार खड़ी है उसे छिन्न भिन्न होना चाहिए और सारे मानव समान स्तरमें..."

एकलव्यके इन प्रभावोत्पादक शब्दोंमें इस पुस्तकके लेखक बन्धुवर शोभाचन्द्रजी जोशीकी आत्मा बोल रही है। यद्यपि जोशीजीका जन्म उच्च तथा सुसंस्कृत वंशमें हुआ है तथापि उन्हें अपने स्वाभिमान तथा फक्कड़पनके कारण ऐसी विकट परिस्थितियोंमेंसे गुजरना पड़ा है कि उससे कोई मामूली युवक तो घबरा जाता और अपने जीवनको अत्यन्त कटु बना लेता। पूरे साँच वर्ष उन्होंने आवारागर्दीके विश्वविद्यालयमें शिक्षा पाई है और उसीको वे अपने जीवनका सर्वोत्तम भाग मानते हैं। स्वभावतः इसी कारण वे सुप्रसिद्ध रूसी लेखक गौर्कीके अनन्य भक्त हैं। उन्हींको वे अपना आराध्य मानते हैं और उनका नाम लेते ही जोशीजीकी अन्तरात्माको मानों कुछ आह्लाद तथा सन्तोष होता है।

अपनी छोटी-सी उम्रमें ही (अभी वे कुल जमा ३२ वर्षके ही हैं) उन्होंने समाजकी विभिन्न श्रेणियोंके मानव नामधारी जीवोंको आँख खोल कर देखा है, अपनी सूक्ष्म बुद्धिसे उनके गुण-दोषोंका विश्लेषण किया है और तथाकथित प्रतिष्ठित जन्तुओंकी हृदयहीनतासे वे अत्यंत उद्विग्न भी हो उठे हैं। जोशीजी यदि चाहते तो थोड़ी-सी खुशामद, थोड़ी-सी दुनियादारी और किंचित् मिलनसारीसे बुर्जुआ बन सकते थे और उच्चतर श्रेणीमें अपना नाम लिखा सकते थे पर स्वाभिमान तथा अक्खड़पनके कारण

वे उन पतनकारी प्रलोभनोंसे बचे रहे हैं और इस प्रकार उन्होंने अपने हृदय-की संवेदनशीलता तथा मानसिक चित्रपटकी कोमलताकी रक्षा कर ली है। अपनी कठोर अनुभूतियाँ ही उनके लेखक-जीवनकी पूँजी हैं और वे किसी भी हालतमें किसीके भी करुणापात्र नहीं बनना चाहते—पूज्य पिताजीके भी करुणापात्र बननेके बजाय उनके रोषपात्र वे अनेक बार बन बैठे हैं। और पिताजीके मित्रोंको खरी खोटी सुनानेमें उन्हें कोई झिझक नहीं। इस नाते हमें भी उनकी व्यंगोंकी बौछार सहनी पड़ी है और 'किताबोंके कैपीटेलिस्ट' की उपाधि भी सिर-माथे लेनी पड़ी है! कहनेकी आवश्यकता नहीं कि जोशीजीमें स्वाभिमानी और विद्रोही 'प्रोलीतेरियत' समाजकी हार्दिक भावनाओंका प्रतिनिधित्व करनेकी क्षमता अच्छी मात्रा-में विद्यमान है।

'चार चित्र और मेरा प्रश्न' नामक रेखा-चित्रमें उनकी आहत आत्मा एक बार फिर बोल उठी है—

"तब मैं पूछता हूँ कि उस लड़केमें जो बिना प्रयोजन मुझे मालिक कह कर 'राम राम' करता है, उस लँगड़े देहातीमें जो सिरमें चोट लगने पर भी फरियाद करनेका साहस नहीं कर सकता और पंडितजीके उन यज-मानोंमें जो सदियोंसे ब्राह्मण कहानेवाले एक मनुष्यके आगे झुकते आये हैं, ऐसा कौन-सा सामान्य संस्कार जकड़े हुए है, जो उन्हें मनुष्य नहीं बनने देता?

"और मैं पूछता हूँ कि आनेवाले युगमें—उस युगमें जिसका उज्ज्वल अग्रभाग इस समय भी भविष्यकी क्षितिज-रेखापर साफ साफ चमकने लगा है—जाग्रतिके उस युगमें जब धन साधनों तथा उत्तरदायित्वका समान बँटवारा होगा—जब शक्ति एक जगहपर एक व्यक्ति अथवा अल्पसंख्यक व्यक्तियोंमें केन्द्रित न होकर अधिकसे अधिक व्यापक होगी—जब हममेंसे प्रत्येक प्रकाशके लिए परमुखापेक्षी न रह कर स्वयं ही प्रकाशपुंज बननेका प्रयत्न करेगा—ऐसे अवश्यंभावी युगमें— मैं पूछता हूँ कि क्या ये लोग अपने हिस्सेमें आई हुई शक्तिका भार वहन कर सकेंगे?

"जिनकी बुद्धि मन और नेत्रोंपर शताब्दियोंके कुसंस्कार, दीनता दासता और दुर्बलताने पर्दा डाल रखा है—क्या वे लोग मानव-इतिहासके उस

शुभ प्रातःकालके सौभाग्यपूर्ण स्वाधीनता-सूर्यके दर्शन भी कर सकेंगे ? मैं पूछता हूँ।"

इन शब्दोंमें जोशीजीकी कई प्रवृत्तियों तथा आकांक्षाओंका सुन्दर सामंजस्य पाया जाता है। दीनतापूर्ण कुसंस्कारोंके प्रति उनके हृदयमें जो विद्रोह है, अन्यायके प्रति घृणा है, मानवोचित सम्मानकी रक्षाके लिए जो उत्कट अभिलाषा है और भावी युगके विषयमें उनकी जो कल्पनाएँ हैं, उन सबका समावेश उपर्युक्त वाक्योंमें हो गया है।

जोशीजीको अत्यंत दुःखप्रद अनुभव हुए हैं, जिन्होंने उनकी आत्माको झकझोर डाला है। उनके बारह भाई बहनोंमें नौका देहांत हो चुका है। उनके जीवन-मरण नामक रेखा-चित्रमें उसकी एक हृदय-वेधक झलक पाठकोंको मिल जायगी। उक्त लेखमें 'जीवन' नामक जिस पुस्तकका ज़िक्र किया गया है दुर्भाग्यवश उसके अनेक संस्करणोंको जोशीजीको पढ़ना पड़ा है और उसके कई अध्याय तो उन्हें कण्ठस्थ हो गये हैं। उन आरामतलब युवकोंके नीरस निस्सार जीवनपर, जिसमें न आत्मबोधक कष्टकी छाया है और न अनुभूतिजन्य ज्ञानकी ज्योति, वे व्यंगसे करते हुए प्रतीत होते हैं, "क्या जाने आप, ज़िन्दगी कहते हैं किसे !"

एकलव्य और उसके लेखकका परिचय देते हुए हमें एक फरासीसी विद्वानकी याद आ रही है जो किसी औद्योगिक महाविद्यालयकी प्रवेशिकापरीक्षामें परीक्षक बना करता था। उसने अपनी अनुभूतियोंका वर्णन करते हुए लिखा है —

"जब कोई परिश्रमी तथा प्रतिभाशाली युवक मेरे सामने आता था और अपनी तीक्ष्ण बुद्धिसे मुझे प्रभावित कर देता था तो मैं गद्गद हो उठता था और हर्षके आँसू रोकना मेरे लिए कठिन हो जाता था।" यद्यपि उन फरासीसी महानुभावकी तरह न तो हम विद्वान् हैं और न भावुक तथापि इतना हमें भी स्वीकार करना पड़ेगा कि जोशीकी कई रचनाओंको पढ़कर हमारे मनमें स्पर्धाके भाव अवश्य उत्पन्न हुए हैं। प्रयत्न करने पर भी हम 'एकलव्य' और 'कालिदासके दो चित्र' जैसी चीजें न लिख पाते। प्राचीन प्रथाके अनुसार तो हमें जोशीजीसे पराजित होनेमें ही अपना गौरव मानना चाहिए—शिष्यादिच्छेत् पराजयं—पर गुरुत्वके भारी भरकमपनके बजाय बन्धुत्वका हलकापन (!) हमें अधिक रुचता है और इसी कारण अपने प्रिय विषय 'रेखा-चित्र' पर हमें पराजय हर्गिज पसन्द नहीं।

कई बार हमने सोचा है कि अनुभूतियोंकी कितनी बड़ी पूंजीके साथ जोशीजीने लिखना प्रारंभ किया है, संस्कृतका कितना अच्छा ज्ञान उन्हें अपने पूज्य पिताजीसे मिला है, और कैसी विकट परिस्थितिमें उन्होंने प्राइवेट तौर पर अध्ययन कर करके अँग्रेजीपर अधिकार प्राप्त किया है और यदि उनकी साधना इसी प्रकार जारी रहे तो आगे चलकर वे कैसे बढ़िया लेखक बन सकते हैं !

पर इस शुभ अवसरपर जब उनकी प्रथम रचना पुस्तकाकारमें जनताके सम्मुख आ रही है हम उन्हें एक चेतावनी देनेके प्रलोभनको नहीं रोक सकते !

साहित्य-साधनाका पथ कितना कण्टकाकीर्ण है और उसपर निरंतर चलते रहना कितना कठिन, इस विषयमें प्रत्येक नवयुवक साहित्यकको सावधान करनेकी जरूरत है। उन लड़कियोंकी तरह जिनका यौवन पन्द्रह वर्षकी उम्रमें शुरू होकर पच्चीस वर्षकी उम्रमें खतम हो जाता है और जो तीस वर्षकी अवस्थामें बिल्कुल बूढ़ी दादी बन जाती हैं हमारे अनेक साहित्यिकोंकी प्रतिभाका युग भी बहुत जल्दी समाप्त हो जाता है और तत्पश्चात् वे पिष्टपेषण करते हुए ही नजर आते हैं : न वे नवीन अनुभव प्राप्त करते हैं, न उनमें गम्भीरता आती है और पत्रपुष्पविहीन शुष्क वृक्षोंकी तरह खड़े हुए वे साहित्य-क्षेत्रमें अपनी निष्फलता तथा अकालवार्द्धक्यका परिचय दिया करते हैं।

कोई परीक्षा-पिशाचके चक्करमें फंस जाते हैं, किसीको डिग्रियोंका मोह ले बैठता है, कोई ट्यूशनकी ताड़कासे पाणिग्रहण कर लेते हैं, किसीके सिरपर 'प्रोफ़ेसर' बनकर मक़बरा बनानेकी आकांक्षा सवार हो जाती है और कोई कठोर तपस्यासे तंग आकर बीचमें ही कन्धा डाल देते हैं ! हाँ, बाज बाज मनचले ऐसे भी होते हैं, जो माता सरस्वतीको लक्ष्मीदेवीकी चेरी बनानेके भयंकर तथा बीभत्स प्रयत्नमें अपना तन मन लगा देते हैं जब कि इनकी अक्ल तथा थैलीके मोटी होनेके साथ साथ सरस्वती माताका कलेवर नित्यप्रति क्षीण ही होता जाता है। साहित्यके दुर्गम पथपर ऐसे कितने ही कंकाल पड़े हुए नजर आते हैं जो कभी लेखक या कवि थे !

आजका संघर्षमय युग लेखकों तथा कवियोंसे केवल उच्च विचार,

मनोरंजन या शब्दाडम्बरकी ही आशा नहीं करता बल्कि वह उनसे यह उम्मेद रखता है कि उनके शब्दोंके पीछे एक व्यक्ति हो, जो कुछ वे लिखें उसकी सत्यता प्रमाणित करनेके लिए अपने आचरणोंद्वारा प्रयत्न भी करें, गरज यह है कि वे अपने आचरणों तथा विचारोंमें सामंजस्य स्थापित करनेके लिए कटिबद्ध हों।

आजका पीड़ित आहत मानव-समाज केवल उत्तेजक भावनाओंसे संतोष नहीं कर सकता। वह लेखकोंसे पुकार पुकार कर कहता है :—

Go put thy creed into thy deed
Nor speak with double tongue

"जनाब, अपने विश्वासोंके अनुसार अपने कार्य भी बनाइए। दुहरी जबानसे न बोलिए।"

कर्तव्य कर्मोंसे विहीन कोरमकोर विचार गर्भपातकी तरह हैं। यह सत्य हम सबको—लेखकों और कवियोंको, राजनीतिज्ञों और विचारकोंको—हृदयंगम कर लेना चाहिए।

जोशीजीने अपने एक रेखा-चित्रमें जो महत्त्वपूर्ण प्रश्न किया है उसमें थोड़ा-सा परिवर्तन करके हम यहाँ दुहरा देना चाहते हैं—

जाग्रतिके उस अवश्यंभावी युगके लिए, जब धन साधनों तथा उत्तर-दायित्वका समान बँटवारा होगा, जब शक्ति एक जगह पर एक व्यक्ति अथवा अल्पसंख्यक व्यक्तियोंमें केन्द्रित न होकर अधिकसे अधिक व्यापक होगी और जब हममेंसे प्रत्येक प्रकाशके लिए परमुखापेक्षी न रहकर स्वयं प्रकाश-पुंज बननेका प्रयत्न करेगा, उस युगके लिए क्या हम लेखक लोग कुछ सामूहिक प्रयत्न करेंगे? अथवा क्या हम डेढ़ चावलकी खिचड़ी अलग अलग पकाकर ही अपने चित्तको सन्तुष्ट कर लेंगे? और क्या डेढ़ चावलकी यह खिचड़ी लाखों करोड़ों हिन्दीभाषाभाषियोंकी मानसिक भूखको तृप्त कर सकेगी?

जोशीजीसे हमारा कुछ सम्बन्ध भी है। उनके पूज्य पिताजी श्रद्धेय पं० चन्द्रबल्लभजी शास्त्रीसे हमारा ३०-३२ वर्षसे बन्धुत्व चला आ रहा है--

तब हम दोनों एक ही संस्थामें अध्यापक थे—और यहाँ पधारकर हर बार शास्त्रीजी हमें यही प्रेमपूर्ण आदेश दे जाते हैं, "यह लड़का तुम्हारे सुपुर्द है, इसकी खबर रखना।" इस प्रकार हमें जहाँ जोशीजीको आशीर्वाद देनेका अधिकार है वहाँ उनकी खबर लेनेका भी!

सहर्ष अपने इन दोनों अधिकारोंका प्रयोग हमने इन दो शब्दोंमें किया है!

आम्र-निकुंज
कुण्डेश्वर, टीकमगढ़
२।४।४७

बनारसीदास चतुर्वेदी

स्वर्गीया जननीको

सूची

१	एकलव्य	१
२	वह कौन थी ?	७
३	बहु-जन-सुखाय	१६
४	ज़रा-सी बात	२३
५	भावुकता	३२
६	कालिदासके दो चित्र	३७
७	लावारिस	४३
८	आवाज़ें	५१
९	जीवन-मरण	५७
१०	तमसो मा ज्योर्तिगमय	६३
११	अवांछनीया	६८
१२	पठान	७६
१३	चार चित्र	८६
१४	शिवनन्दन	९४

एकलव्य

हस्तिनापुरकी रंगशालामें एक दिन उत्सव-सा हो गया। वैसे, जबसे द्रोण नामके आचार्य राजकुमारोंको युद्ध-विद्या सिखाने आये, तबसे वहाँ कुछ न कुछ नई-नई विचित्र घटनायें प्रतिदिन हुआ ही करती थीं।

आचार्यके शिष्योंकी संख्या भी एक, दो, या दस, बारह नहीं थी। सवा सौसे ऊपर उनके शिष्य थे। सौ लड़के तो अकेले धृतराष्ट्रके थे। पाँच पांडुके, और कुछ दूसरे जनपदोंके राजकुमार भी आचार्यसे धनुर्विद्या सीखनेके लिए वहाँ आ गये थे।

जिस दिनकी यह कहानी है, उस दिन प्रातःकालके समय रंगशालाके द्वारपर एक अनार्य युवक पहुँचा, आचार्य द्रोणके दर्शनोंकी उसे इच्छा थी। किन्तु उसकी वेष-भूषा देख कर प्रतीहारने उसे अन्दर नहीं जाने दिया।

कौवेके पंखोंका-सा रंग, मदिरा पिये हुए व्यक्तिकी-सी लाल-लाल आँखें, कनपटियों तक पहुँचनेवाले काले-काले कुंचित केश, कानोंमें भारी-भारी सोनेके कुंडल, शरीरपर व्याघ्रचर्म, पीठपर तूणीर, दाहिने हाथमें धनुष, नंगे पैर, नंगे सिर।

प्रतीहारने वैसा विचित्र व्यक्ति आजसे पहले रंगशालाके द्वारपर नहीं देखा था।

"कौन हो जी तुम?" उसने तीखे स्वरसे पूछा।

"भिल्लराज हिरण्यधनुका पुत्र..."

"ओ-हो! महापुरुष हो तुम!" प्रतीहारने व्यंगके तीर छोड़ कर कहा, "जँचते हो भाई। मैं तो समझा था महाराज शान्तनुके चौथे पुत्र तुम्हीं हो। आचार्यसे भेंट करना है? क्यों? आचार्य तुम जैसे दस्युओंसे नहीं मिला करते!"

अनार्यकी आँखोंमें बिजली कौंध गई। किन्तु क्रोधको पीकर उसने पुनः दौवारिकसे प्रार्थना की—"भाई, तुम जाकर आचार्यसे निवेदन तो कर दो। वे यदि अस्वीकार कर दें तो मैं चला जाऊँगा। कहना, भिल्लराज हिरण्यधनुका..."

"जाओ-जाओ यहाँसे। ऐसे कई भिल्लराज झाड़ू दिया करते हैं यहाँ। भाग जाओ!" द्वारपालने तेज होकर कहा।

आगन्तुकको क्रोध सँभालना कठिन हो गया। उसने आव देखा न ताव, आगे बढ़ कर द्वारपालकी बाँह पकड़ ली और झटका देकर उसे एक ओर कर दिया। जब तक वह सँभले कि वह अन्दर चला गया।

गोलाकार अखाड़ेके चारों तरफ राजकुमार अपने अपने शस्त्रोंसे सज्जित हो खड़े थे। एक ओर द्रोण ऊँचे आसनपर बैठे उन्हें कुछ आदेश दे रहे थे।

अचानक एक अनार्यको रंगशालामें प्रवेश करते देख सबके सब चकित-से हो गये। आचार्यने अपना प्रवचन रोक दिया।

आगन्तुक धीर-गंभीर चालसे उन तक पहुँचा और प्रणाम करके बद्धांजलि होकर उनके सम्मुख खड़ा हो गया।

सब लोग कुतूहलमें निकट खिंच आये थे। आचार्यने एक बार वही प्रश्न किया जो द्वारपालने किया था—"कौन हो तुम?"

"भिल्लराज हिरण्यधनुका पुत्र एकलव्य।"

दबी हँसीकी एक लहर दौड़ गई राजकुमारोंकी पंक्तिमें।

"किस प्रयोजनसे यहाँ आये हो?"

"युद्धविद्या सीखने आचार्य।"

"हूँ।" अबकी आचार्य भी मुस्करा उठे। खिलखिलाहट मच गई शिष्य-वर्गमें "क्या कहने हैं जी!" "भई वाह!" "धनुर्वेद सीखेंगे जी!" "आचार्य द्रोणके शिष्य बनेंगे भिल्लराज!"

आचार्यने किसी प्रकार शिष्यवर्गको शान्त किया। बोले—

"देखो युवक, तुम्हारी आकांक्षा बुरी नहीं। किन्तु आर्योंके धर्मशास्त्रका तुम्हें ज्ञान नहीं है। अन्यथा तुम्हें यहाँ तक आनेका कष्ट ही नहीं करना पड़ता। देखो, हमारे धर्मशास्त्रमें अनार्योंको धनुर्वेद सीखनेका अधिकार

नहीं है।"

"क्यों आचार्य ?" युवकने सिटपिटाते हुए पूछा।

"तुम्हारी उद्धतता अब भी क्षम्य है। युवक, अज्ञानी हो तुम इसलिए। हमारे धर्मशास्त्रके विरुद्ध अनार्योंको आलोचना करनेका भी अधिकार नहीं। अनधिकार प्रवेशका दंड जानते हो ? शंबूकके अपराधकी कहानी सुनी है ? मर्यादा पुरुषोत्तम रामने उसे प्राणदंड दिया था।"

परन्तु असीम साहसी था वह अनार्य युवक। बोला, "आचार्य, अपराध क्षमा हो। क्या आर्योंके धर्मशास्त्रमें यह भी लिखा है कि अनार्य मनुष्य ही नहीं ? जैसे दूसरे पशु होते हैं..."

अबकी आचार्य चुप हो गये। क्या उत्तर दें इस प्रश्नका ? आर्योंके धर्मशास्त्रको न माननेवाले दस्युका अपराध सीमाका अतिक्रमण कर चुका था।

राजकुमारोंमेंसे एक आगे बढ़ा। एकलव्यके आगे आकर बोला—"मुझसे पूछो, मुझसे, तुम्हें मनुष्य कहता कौन है ? अनार्य, दस्यु, चांडाल, राक्षस, निकल जाओ यहाँसे !"

दो चार तलवारें कोषके अन्दर-ही-अन्दर झनझना उठीं। अनार्य एकलव्यका बायाँ हाथ भी अनजानेमें एक बार तूणीर तक पहुँच कर गिर गया।

आचार्यने दूसरी बार शान्ति स्थापित की और कहा—"उद्धत युवक, सकुशल लौट जाओ यहाँसे। मैं नहीं चाहता कि रंगशालाकी भूमि तुम्हारे रक्तसे सींची जाय। मैं तुम्हें अपना शिष्य स्वीकार नहीं कर सकता।"

अपमानित मानव चुपचाप सिर नीचा किये हुए वहाँसे चला गया। क्रोध और घृणाकी आग भभक उठी उसके अन्तस्तलमें। आज उसे मानवों-द्वारा ही अमानव स्वीकार कर दिया गया था।

"प्रतिशोध लूँगा, प्रतिशोध !" उसने सोचा, "आज आर्य देशके शासक बने हुए हैं। कुछ ही सौ वर्ष तो हुए हैं, जब गाय और बैलोंके झुण्ड चराते हुए ये लोग अतिथिके रूपमें उत्तरापथके द्वारपर आ खड़े हुए थे। इस देशके अनार्योंने स्वागत किया था गौरवर्ण आर्य जातिका। उस समय उनकी सामाजिक व्यवस्था कितनी सुन्दर थी ! शासक और शासित

थे ही नहीं। आर्योंने पहले पहल लोकतन्त्रकी व्यवस्था फैलाई थी। उसके पश्चात आर्यों और अनार्योंमें युद्ध हुए। अनार्योंकी पराजय हुई। और वे लोग मनुष्य नहीं रह गये। दस्यु, चाण्डाल, राक्षस बन गये अनार्य!"

जिस क्षण मनुष्यने मनुष्यपर विजय प्राप्त की उसी क्षण शासनकी व्यवस्था का निर्माण हुआ। तभी धर्मशास्त्र भी बने। मनुष्य मनुष्यके बीच अभेद्य दीवार उठ खड़ी हुई। मनुष्यके ही हाथों मनुष्यके अपमान होनेकी परम्परा बन गई।

अपमानित एकलव्यने सोचा, "केवल एक बार यदि आर्योंकी पराजय हो जाय तो शासक और शासितका भेदभाव मिट सकता है। काले-गोरे मनुष्य इस विशाल देशमें एक समाज बनाकर रह सकते हैं। अपमानकी अनुभूतिके बिना मानवका पूरा मानसिक विकास नहीं हो पाता। आर्योंकी शासनलिप्सा बिना एक बार पराजित हुए नहीं बुझ सकती।"

एकलव्यने जंगलके एकान्त कोनेमें मिट्टीका एक पुतला बनाया। नाम रक्खा—आचार्य द्रोण। तीर और कमान लेकर अभ्यास करना आरम्भ कर दिया।

आर्योंके धर्मशास्त्रमें इसके विरुद्ध कोई नियम नहीं था। लगन सच्ची थी, कुछ ही वर्षोंमें एकलव्य धनुर्विद्यामें निपुण हो गया।

आचार्य द्रोण एक बार राजपुत्रोंको लेकर मृगयाको निकले। आर्योंके शिकारी कुत्तेने जंगलमें एक अनार्यको देखकर भूँकना प्रारम्भ किया। एकलव्यके अभ्यासमें बाधा पड़ने लगी। उसने कुछ शब्द-वेधी तीरोंसे कुत्तोंका मुँह बन्द कर दिया। बेचारा पशु तूणीरकी भाँति अपना तीरोंसे भरा हुआ मुँह लिये आचार्यके सम्मुख आ पहुँचा। बाण चलानेका कौशल देखकर सभी राजकुमार विस्मित हो गये। आचार्यके प्रिय शिष्य अर्जुनकी भौंहोंमें बल पड़ गये।

जाकर देखा, मिट्टीकी एक मूर्तिके सम्मुख धनुसंधान किये हुए भिल्लराज हिरण्यधनुका पुत्र एकलव्य खड़ा है।

आचार्यने विस्मयसे कहा—"युवक, तुम वही तो हो, जो एक दिन मेरे पास विद्या प्राप्त करनेके लिए आये थे? देखता हूँ, धनुर्विद्यामें पारंगत हो गये हो। भला, गुरु कौन है तुम्हारा?"

एकलव्यने मिट्टीके पुतलेकी ओर संकेत किया। आचार्यने देखा, उन्हीं-की मूर्ति थी। व्यंग और विस्मयसे बोले—'तो, मुझे ही परोक्षगुरु बना लिया तुमने? विचित्र साहस है। अच्छा, अनार्य, इस धनुर्विद्याको किस ध्येयकी प्राप्तिमें लगाओगे?"

एकलव्य सिर नीचा किये कुछ देर सोचता रहा। उसकी आँख विचित्र आभासे चमकने लगीं। आचार्यके सम्मुख छाती तानकर, सिर ऊपर उठाये उसने उत्तर दिया—

"आर्य, मनुष्यके समाजमें अनाचारका प्रवेश हो गया है। लोग मानव-धर्मको भूल रहे हैं। धर्म, जाति और राष्ट्र, तथा वर्णभेदके जंजालमें फँस-कर मनुष्य पुनः पशुताकी ओर जा रहा है। ज्ञान और शक्तिका उपयोग मनुष्यमात्रके लिए न होकर थोड़ेसे व्यक्ति-विशेषोंके लिए होने लगा है। कुछ थोड़ेसे शक्ति-सम्पन्न व्यक्तियोंका समूह सारी मनुष्य-जातिको पदाक्रान्त करके उन्हें परतन्त्र बनाये हुए है। मैं अपनी शक्तिसे परतन्त्रताके इस बन्धनोंको तोड़नेका प्रयास करूँगा। मनुष्य और मनुष्यके बीच जो दीवार खड़ी है उसे छिन्न भिन्न होना चाहिए और सारे मानव समान स्तरमें .."

"बहुत ऊँचे विचार हैं!" आचार्यने कहा। वे कुछ देर मौन रहे। आसपास सारे राजपुत्र अधीर होकर आचार्यका मुँह जोह रहे थे। एक-लव्यके विचारोंमें विद्रोह था। क्रान्ति थी उसका ध्येय। कहीं उसकी बन आई तो आर्योंका एकसत्ताका स्वप्न चकनाचूर हो जायेगा। कुछ सोचकर आचार्यने कहा—"एकलव्य, तुमने गुरु तो मुझे बना लिया, परन्तु गुरुदक्षिणा देनेकी बात भी सोची थी तुमने?"

शक्तिका साथी है विनय, एकलव्य लज्जा और नम्रताके बोझसे दब गया। बोला—"आदेश दीजिए, मैं पूरा करूँगा।"

"अपने दाहिने हाथका अँगूठा मुझे दे दो।"

क्षणिक आवेशके वशमें होकर एकलव्य अंधा हो गया। कमरसे छुरा निकालकर उसने अँगूठा काट लिया और आचार्यको समर्पित कर दिया।

राजपुत्रोंके मुख दीप्त हो उठे। विजयका गर्व उनकी आँखोंमें झलकने

लगा। आचार्यने आशिर्वाद दिया—"यशस्वी होओ!"

सब लोग चले गये। एकलव्य अकेला रह गया। एकाएक उसे लगा कि उसने बड़ा भारी भूल की है। एक ही क्षणमें उसने वर्षोंकी साधनाको नष्ट कर दिया। आदर्शवादके नशेमें यथार्थ सत्यको वह भूल गया था। मानवी समानताके उसके सारे स्वप्न मिट्टीमें मिल गये। उसे लगा कि आचार्यके गुरुदक्षिणा माँगनेमें भी एक चाल थी। अँगूठा कट जानेसे धनुर्विद्यामें एकलव्यकी सारी कुशलता चली गई। कोरे यशको वह क्या करे?

फिर उसे स्मरण हो आया अपने पिछले अपमानका। मारे दुःख और पीड़ाके एकलव्य अधीर हो गया बेचारा। इससे बड़ा अपमान मानवका और क्या हो सकता था? एकलव्यने उस दिन अपना ही अँगूठा नहीं काट लिया, सारी पराजित मानवताका भी अँगूठा उसी दिन कट गया। मानव-समाजके बीच श्रेणी-भेदकी नींव और भी पक्की हो गई।

समयका चक्र चलता ही रहा। कई सौ शताब्दियाँ बीत गईं। कौरव मर गये। विजयी पाण्डव भी मर गये। एकलव्य भी चला गया। कलके विजयी आर्य आज एक तीसरी जातिद्वारा पराजित हो गये। अपने ऊँचे सिंहासनसे आर्य-लक्ष्मीको भी नीचे उतरना पड़ा। "मनुष्यके नारायण तो धूलमें खेल रहे थे।"

अपमानित मनुष्यका शाप व्यर्थ नहीं जाता, पराजित आर्योंने गौरवके शिखरसे उतर कर देखा, अब वे भी उन्हीं लोगोंके साथ खड़े हैं जिन्हें उन्होंने किसी समय पददलित किया था।

आर्य और अनार्य दोनों गुलाम बन गये एक दिन। इतनी बड़ी चोट खाकर भी लोगोंके सिरसे घमंडका भूत नहीं उतरा। गुलाम और गुलामके बीच भी बड़े और छोटेका भेद बना ही रहा।

उसके बाद भी हजारों लाखों एकलव्य पैदा हुए। उतनी ही बार द्रोणने भी अवतार लिया। उतनी ही बार एकलव्यका अँगूठा काटा गया। जन्म-जन्मान्तर तक लगातार अपमानकी चोट खाकर भी मनुष्यका देवता नहीं जागा। अपमान करनेवाले भी स्वयं अपमानका ही जहर खाकर सो गये।

वह कौन थी ?

पहली जनवरीके दिन मैंने दो प्रतिज्ञाएँ की थीं—एक तो आजसे बीड़ी-सिगरेट इत्यादि किसी भी रूपमें तमाखूका सेवन न करूँगा; दूसरी अपनी 'उनको' यथाशक्ति अँगरेज़ी लिखना-पढ़ना सिखाऊँगा। तमाखूसे मेरे फेंफड़े खराब हो गये हैं। आए दिन खाँसीका दौरा रहता है। हर बार दमे-सा कुछ हो जाता है। हाँफ-हाँफकर जान निकलने लगती है। उन्हें अँग्रेज़ी पढ़ानेका जो शौक़ चर्राया है, उसके भी कई कारण हैं। इधर कुछ नई-नई हवाएँ चलने लगी हैं। हम लोगोंके दिमाग़, शैतान जाने, कुछ-कुछ फिर गये हैं। हर चीज़में, हर काममें, प्रत्येक कारण और परिस्थितिमें नई-नई फिलासफी ढूँढ़ी जाती है। पति-पत्नीके सनातन सम्बन्ध भी एक नए ढाँचेमें ढाले जाने लगे हैं। कामरेडशिपके इस नये रंगमें रँगनेके लिए दोनोंका हमख़्याल होना ज़रूरी है, और हमख़्याल बननेके लिए, बिना किसी कारण भी अँगरेज़ी पढ़ना नितान्त आवश्यक है।

वैसे तो हम लोगोंका ब्याह हुए आजसे साढ़े सात साल हो गये हैं। आज तक उन्हें पढ़ाने-लिखानेकी ज़रूरत मुझे महसूस न हुई हो, यह बात भी नहीं। हर बार मैं ईमानदारीसे उन्हें पढ़ाना चाहता हूँ और हर बार वे भी बड़े ही चावसे पढ़ना चाहती हैं; किन्तु सदा कुछ-न-कुछ ऐसी अड़चनें सामने आती रही हैं कि, बावजूद मेरी ईमानदारी और उनके विद्या-प्रेमके

आज तक वे कुछ भी नहीं पढ़ सकी हैं। प्रत्येक नए वर्षके प्रारम्भमें हम लोगोंका यह पठन-पाठनका कार्य बड़े जोर-शोरसे शुरू होता है और फरवरी तक आते-आते बन्द हो जाता है। प्रत्येक बार अँगरेज़ीके छब्बीसों वर्ण मैं उन्हें अच्छी तरह सिखा देता हूँ। 'सी-ए-टी=कैट' वाला पाठ उन्हें हर साल अच्छी तरह याद भी हो जाता है; किन्तु उसके बाद वह टाँय-टाँय-फिस ! 'किंग रीडर'के पहले पाठसे आगे हम लोगोंकी गाड़ी चल ही नहीं पाती। छै-सात बर्षके अध्ययनके अन्तमें भी वे मुर्गीको 'हेन' कहना नहीं सीख सकीं।

यह कमज़ोरी है किसकी ? मेरी या उनकी ? मुझे बहुत सोचनेपर भी नहीं मालूम हो सका। इस वर्ष भी मैं पहली जनवरीको प्रातःकाल अँगरेज़ीकी एक प्राइमर, जिसकी क़ीमत पहले तीन आने थी; बारह आनेमें खरीद लाया। घरमें उन्हें देते हुए मैंने कहा—'लो, इसे संभाल रखो। आज शामसे इसे पढ़ाना शुरू करूँगा। और देखो, पढ़नेका समय रोज़ एक ही होना चाहिए—यानी, मान लो, शामके सातसे साढ़े आठ बजे तक। डेढ़ घण्टा काफ़ी होगा। दो घण्टे रोज़ तो इंटरमीडिएटके विद्यार्थी पढ़ा करते हैं। तुम्हें तो अभी केवल ए-बी-सी...पढ़ना है।' इतना कह कर जब मैं जाने लगा, तो मुझे कुछ खयाल आया। मैंने लौटकर कहा— 'अरे देखो, आजसे मैंने सिगरेट पीना भी छोड़ दिया है। देखना, घरमें तलाश करने पर भी सिगरेटका एक टुकड़ा तक न मिले।'

किन्तु तमाखूकी तलफ़ बुरी चीज़ है। उस दिन स्कूलकी छुट्टी थी। मुझे कोई काम करनेको न था। कहानियोंकी एक पुस्तक लेकर पढ़ने बैठ गया। सोचा था, दिल बहलेगा—दिन कटेगा। परन्तु सायंकाल तक पुस्तकके दो पन्ने भी नहीं पढ़ सका। रह-रहकर सिगरेटोंका ध्यान आ जाता। ऐसा लगता, जैसे कलेजा बाहर निकला जा रहा हो। बार-बार मैं अपने आपको तसल्ली देता कि बस, अब सिगरेट पीना छूट गया। एक-दो दिन किसी भी तरह बिता लो, उसके बाद तो याद भी नहीं रहेगी कि मैं कभी सिगरेट भी पिया करता था।

फिर सोचता, आखिर क़सम तो ले नहीं रखी है। बहुत तक़लीफ़ हुई, तो एक-आध पी भी लूँगा। अबकी मामूली दर्जेकी सिगरेट छुऊँगा भी नहीं। कैची सिगरेटका तो नाम ही नाम है। स्टेट-एक्सप्रेस यहाँ मिलती ही नहीं। हाँ, अबकी 'केवन-ए' पिया करूँगा। अपने-आपपर नियन्त्रण किए बग़ैर भी काम नहीं चलेगा। बस एक सिगरेट सुबह, एक भोजनके पश्चात् और एक रात-को सोते समय—तीन सिगरेटें काफी हैं। अपनी दिली ईमानदारीपर भी तरस आता। सोचता, यह क्या मरदानगी है ? एक साधारण-सा त्याग भी नहीं करते बना ! संसार-क्षेत्रमें न-जाने कैसे-कैसे बड़े कार्य करने पड़ेंगे। यह कमज़ोरी है—मानसिक कमज़ोरी ! जो वस्तु छोड़ दी, फिर उसका विचार ही क्यों ?

इसी तरह शामके सात बज गए। कहानीकी पुस्तक आल्मारीमें रखकर मैं कहीं टहल आनेका इरादा कर ही रहा था कि अँगरेजीकी नई प्राइमर लेकर वे कमरेमें आ पहुँचीं। कहने लगीं—'कहाँ जानेकी तैयारी हो रही है ? मुझे पढ़ाओगे नहीं ?'

मैंने विरक्तिके स्वरमें कहा—'भई, आज तो तबीयत बड़ी परेशान है। आज रहने दो। कलसे देखा जायगा।'

'अजी, तुम्हारा तो रोजका यही होना है। दिन-भर खुद तो पढ़ते रहे हो और अब जब मुझे पढ़ानेका समय आया, तो तुम्हारी तबीयत परेशान है !'

मैंने कहा—'ज़रा देखो तो सही, मैं कितनी मानसिक यातना सहन कर रहा हूँ। मुझ-जैसा सिगरेटबाज़ और एकदम सिगरेट छोड़ दे ! मैं ही जानता हूँ, मेरे अन्दर क्या गुज़र रही है। प्राण निकल रहे हैं—प्राण ! जानती हो ?'

'अजी, रहने दो, बस; बहाने बनानेको हज़ार मिल जाते हैं। ऐसी तक़लीफ़ अगर हो रही है, तो पी लो न एक-आध सिगरेट ! मुझे पढ़ानेमें आनाकानी करनेसे काम नहीं चलेगा। मैं सिगरेट मँगवाती हूँ तुम्हारे लिए।'

उन्होंने वहीं नौकरको बुलाया और साढ़े तीन आने देकर सिगरेटका एक पैकेट लानेको कहा। मैंने कोई विरोध नहीं किया। सोचा, ज़िद करती हैं, तो पिए लेता हूँ; मगर मैंने तो, अपनी क़सम, सिगरेट छोड़ ही दी है। ख़ैर,

मैं जो जा रहा था, सो रुक गया। वे पुस्तक खोलकर सामने बैठ गईं। बोलीं—'लो, अब तो पढ़ाओ।'

मैंने कहा—'पढ़ाता हूँ, सब्र करो। सिगरेट तो आ जाने दो!'

'देख लिया, कैसे पक्के विचार होते हैं तुम्हारे! मैं जानती थी, एक-आध दिन ही निभ सकेगी तुम्हारी यह भीष्म-प्रतिज्ञा। छोड़नेवाले वे होते हैं, जो दुबारा नाम तक नहीं लेते।'

'तो मैंने कब कहा था, लाओ सिगरेट दो मुझे? तुम्हारा स्वार्थ था, सो तुम्हींने ज़िद की! वैसे अब भी मैं ज़्यादा तो पिऊँगा नहीं—रोज़की तीन सिगरेटें, बस।'

सिगरेटें आ गईं। मैंने दो-चार लम्बे-लम्बे कश खींचे। सिर चकरा गया। एक गिलास पानी पीकर मैंने कहा—'अच्छा, अब खोलो किताब।' वे ध्यानस्थ होकर बैठ गईं। मैंने कहा—'देखो, अँगरेज़ीमें कुल छब्बीस वर्ण होते हैं—ए-बी-सी...।'

'ये तो मुझे मालूम हैं। तुम कई बार तो पढ़ा चुके हो।'—उन्होंने कहा।

मैं बोला—'देखो, तबकी दूसरी किताब थी—पुराने ढंगकी। यह नए ढंगकी किताब है। इसके पढ़ानेका ढंग भी नया है।'

'पर वर्ण तो वही होंगे? वे तो बदल नहीं जायँगे?'

'हाँ ठीक है। तुम बुद्धिमती हो।'—मैंने कहा—'वर्ण तो वही हैं; लेकिन चूँकि पढ़ानेका ढंग इसमें डाइरेक्ट मेथडसे है—यानी...यानी... ख़ैर, नए ढंगसे पढ़ानेके लिए फिर पहलेसे शुरू करना होता है।'

वे बोलीं—'अँगरेज़ीमें छब्बीस वर्ण होते हैं, मुझे मालूम हैं। कहो तो सुना दूँ। तुम अब उससे आगे पढ़ाओ।'

'देखो, तुम समझीं नहीं और व्यर्थमें तर्क करने लगीं। भई, पढ़ाना मुझे है, न कि तुम्हें? इसलिए जैसा मैं पढ़ाऊँ, वैसा पढ़ो।'

'नहीं, मुझे नहीं पढ़ना है ऐसे। फिजूल समय बिताना मुझे पसन्द नहीं। जो चीज मुझे याद है, फिर उसे ही दुहरानेसे क्या लाभ?'

'ओहो! अब भी तुम नहीं समझीं। अरे, वह सिगरेटका पैकेट कहाँ

है ?'—मैंने इधर-उधर देखकर पूछा।

'क्यों ? अभी-अभी तो एक पी है। तुम तो दिन-भरमें कुल तीन सिगरेटें पीनेको कहते थे ! इस तरह तो रोज़के तीन पैकेट लगेंगे।'

'यह सब-कुछ ठीक है। रोज तीन ही सिगरेटें पिऊँगा मैं। आज तो अभी तक एक ही पी रखी है।'—मैंने दूसरी सिगरेट जलाते हुए कहा।

'अब तक तो बीड़ियाँ पिया करते थे, अब सिगरेट पीना शुरू कर दिया है ! घरके दूसरे खर्च कैसे चलेंगे ?'—पूछा।

'दो-तीन सिगरेटें पीनेमें वही तो खर्च होता है, जो डेढ़ बंडल बीड़ी पीनेमें ? इससे तमाखूकी तादाद कम हो जायगी। फेफड़ोंमें निकोटीन कम जायगा। बीड़ी-सिगरेट पीना अच्छी बात थोड़े ही है। जितना न पियो उतना अच्छा।'

'इस महीनेमें अभी न तो मकानका किराया दिया गया है और न दूधवालेका ही हिसाब हो सका है। नौकर कहता था, पिछले महीनेके बकाया आठ आने और इस महीनेकी तनख़्वाहके ५) रु० आज ही दे दो। मने कहा—'भई, बाबूजीसे माँगना, मेरे पास तो...।'

मैंने उन्हें बीच ही में टोक कर कहा—'अरे, बन्द भी करो अपना यह पुराण। पढ़ने आई हो, पढ़ो। खर्च-वर्चकी चिन्तामें मुझे न डाला करो। महीने भरका वेतन तो तुम्हारे ही पास रहता है। जैसे चाहो, वैसे खर्च करो।'

उन्होंने झल्की तेज़ होकर कहा—'जी हाँ, जैसा चाहो, वैसा खर्च करो ! घरका इन्तज़ाम करना पड़ता, तो आटे-दालका भाव मालूम हो जाता। मैं ही जानती हूँ, कैसे गुज़र हो रही है।'

मैंने कहा—'भई, मैं जानता हूँ सब-कुछ। इतना बड़ा हो गया हूँ—कोरा गधा तो हूँ नहीं; लेकिन तुम्हें भी यह ध्यानमें रखना चाहिए कि हम लोग मजदूर श्रेणीके लोग हैं। कोई धन्ना सेठ या नवाब, राजा-महाराजा नहीं। जो पैसा मिलता है, घोर परिश्रम करके, उसीसे पेट भरना है। हम लोगोंको यदि सन्तोष न हो तो दो दिनमें मर जायँ हम लोग।'

कहने लगी—'धन्ना सेठ बनते देर क्या लगती है ? दो-दो पैसे बचाते

जाओ। ईश्वरकी दया हुई, तो किसी दिन तुम भी रईस हो जाओगे।'

मैंने विरोध करते हुए कहा—'नहीं, नहीं, यह नहीं हो सकता। तुम तो मेरे स्वप्न झूठे किए दे रही हो। मैं पूँजीका खूनी दुश्मन, मैं क्या स्वयं पूँजीपति बनूँगा ? नहीं, हर्गिज नहीं। तुम्हें लाख बार समझाया कि सच्चा जीवन संघर्षमें है, आरामकी रोटियाँ तोड़नेमें नहीं। मुझे तो उसी दिन सच्चा सुख होगा, जब मेरे देशका प्रत्येक व्यक्ति मजदूर होगा, खुद कमायगा, खुद खायगा, जैसा कि रूसमें...।'

'बस, फिर वही रूसकी बात। तुम तो लौट-पलटकर रूस ही पहुँच जाते हो। छिः छिः, उस दिन कहते थे, रूसमें न कोई पति है, न पत्नी। जिस पुरुषके मनमें आई, किसी स्त्रीको ले गया मुन्शीके पास ! दोनोंने अपने अपने नाम लिखा दिए। बस, रहने लगे साथ-साथ। बच्चे हुए, तो सरकारको दे दिए ! जब मर्जी हुई, झगड़ा किया और अलग हो गए। पुरुषने नई स्त्री कर ली और स्त्रीने नया पुरुष ! राम, राम, हमारी परम्पराके आगे कितना ओछा जँचता है तुम्हारा यह नया स्वर्ग !'

मैंने समझाया—'यह ग़लतफ़हमी है कि रूसके प्रति ऐसी धारणा रखी जाय।' फिर मैंने कहा—'जहाँ तक देशकी आर्थिक समस्याका सवाल है, वहाँ रूसकी-सी आर्थिक व्यवस्थाके बिना शान्ति नहीं। रहा सामाजिक व्यवस्थाका सवाल, सो रूसमें भी इन्सान ही रहते हैं—पशु तो रहते नहीं, बल्कि मैं तो कहता हूँ कि रूसकी सभ्यता मनुष्यके चरम विकासकी झलक है। यदि वहाँके लोग विवाहके बन्धनोंसे मुक्त रहना चाहते हैं, तो क्या बुरा करते हैं ? सभी प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त रहकर ही मनुष्यका पूर्ण विकास हो सकता है। जहाँ तक मेरे विचारोंकी पहुँच है, मैं भी विवाहकी संस्थाके ख़िलाफ़ हूँ। यदि पति-पत्नीमें प्रेम नहीं, तो केवल विवाहके बन्धनोंद्वारा एक-दूसरेसे जकड़े रहना तो व्यभिचार है, भयंकर दुराचार है !'

बात चली थी अँगरेजीकी प्राइमरसे और पहुँच गई रूस ! मैंने सोचा, बस हो चुकी पढ़ाई। मुझे बातोंमें ही मजा आ रहा था, पढ़ानेमें कौन दिमाग़ खराब करे ? उन्होंने पूछा—'मान लो, हिन्दुस्तानमें रूसका राज हो गया...।'

मैंने टोककर कहा—'रूसका राज कहीं नहीं होता । रूसकी-सी व्यवस्था होगी ।'

' अच्छी बात है । मान लो, रूसकी-सी सारी बातें यहाँ भी हो गईं, तो तुम मुझे छोड़कर दूसरी शादी कर लोगे, क्यों ?'

अबकी मैंने चौंककर उनके चेहरेको देखा । मजाक-मजाकमें बात कुछ गहरी हो गई थी । उन्होंने किताब बन्द करके एक ओर रख दी थी और लड़नेपर आमादा हुए तीतरकी भाँति मेरी ओर देख रही थीं । इन दक्किया-नूसी औरतोंको और कुछ सूझता भी तो नहीं ! मैंने कहा—'तुम्हारा प्रश्न बहुत टेढ़ा है । मुझे इसपर गौर करनेकी आज तक आवश्यकता ही नहीं हुई; क्योंकि जहाँ तक हम लोगोंके बीच आपसी प्रेमका सवाल है, आज तक तो किसी प्रकारकी शिकायत खड़ी हुई नहीं ।' एक तरहकी कड़वाहट फैल गई थी वातावरणमें । आपसी सम्बन्धोंकी चर्चा करनेसे, उसकी आलोचना करनेसे, ऐसा होना लाजमी ही था । मैंने बात टालनेके विचारसे कहा— मेरे व्यक्तिगत विचारोंको पूछती हो, तो मैं जितना तुम्हें प्यार करता हूँ...।'

'यह कुछ नहीं, यह कुछ नहीं ! आज प्यार करते हो, क्या यह सम्भव नहीं कि कल घृणा भी करने लगो ?'

एक ठोकर-सी लगी मुझे। सवालकी मनोवैज्ञानिक गहराई देखकर हृदय काँप गया । कतराकर निकल जाना चाहा । इस तर्कसे बचकर ही रहना मेरा सापेक्षित स्वार्थ था । सच्चा उत्तर देनेमें मेरी हानि थी । मैंने कहा—'जब ऐसा समय आयगा, तब देखा जायगा । लेकिन ऐसा होगा ही क्यों ?'— ये अन्तिम शब्द मैंने हृदयसे कहे थे । इस औरतको, जो मुझसे स्पष्ट तर्क कर रही है, मेरी आत्मा जानती है, मैं कितना अधिक चाहता हूँ। मैं जानता हूँ कि उसे घृणा करनेसे पहले मैं पागल हो जाऊँगा । प्रेमका घृणामें बदल जाना असम्भव तो क्या, कठिन भी नहीं है; किन्तु उससे जो प्रतिक्रिया होगी, उसे मुझ-जैसा ढीले-ढाले चरित्रवाला व्यक्ति बरदाश्त भी कर सकेगा, यह तो हर्गिज़ सम्भव नहीं । मैंने दाँव बदलकर उनसे पूछा—'जैसा प्रश्न तुम मुझसे कर रही हो, वैसा ही एक सवाल मैं भी तुमसे करता हूँ । मान लो,

तुम्हें सभी तरहकी स्वतन्त्रता दे दी गई—आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक—तब क्या प्रेमकी कमी होनेपर तुम मुझे नहीं छोड़ सकोगी ?'

'कमी नहीं। तुम्हारे दिखाऊ सम्बन्ध भले ही ढीले पड़ जायें; पर संस्कारोंके, संस्कृतिके, बन्धन नहीं टूट सकते। तुममें उतनी शक्ति नहीं।'

'तो तुम संस्कारोंकी गुलाम हो ! क्रान्तिकारी विचार तुममें लेश-मात्र भी नहीं। एक पुरुषकी दासी बने रहना ही तुम्हारे भाग्यमें बदा है। मेरी हमख़याल तुम नहीं हो सकतीं।'

उनका स्वर और भी तीखा पड़ गया। बोलीं—'तो कर लो न दूसरी शादी। ले आओ कोई रूसी मेम। उसीको बना लेना अपनी हमख़याल। मुझे मेरे ही हालपर रहने दो।'

मुझे उनका क्रोधित रूप बड़ा ही भला लग रहा था। मैंने खूँटी और मरोड़ दी। कहा—'ठहरो, धीरज धरो। बस, लड़ाई खत्म हो जाने दो। फिर तो मुझे रूस जाना ही है। जब लौटूँगा, तो देखना, तुम्हारी सौत साथमें होगी, और अगर चार-पाँच सालमें लौटा तो साथमें एक दो बच्चे भी होंगे।'

बात मुँहसे निकल चुकी थी। तीर कमानसे छूट गया था। उसे भला कौन वापस कर सकता था ? मेरा हृदय अपनी ही बातपर धक्-से बैठ गया। मुझे अच्छी तरह मालूम है कि उन्हें सन्तान-प्राप्तकी कितनी प्रबल आकांक्षा है। उनके ईश्वरने—उनके सारे देवी-देवताओंने—उन्हें इष्टका वरदान नहीं दिया। मेरे वाक्यने वही असर कर दिखाया, जो कानेको दर्पण दिखानेसे होता है। अपना वैयक्तिक अभाव उन्हें खटकता ही था, मेरे शब्दोंने आगमें घीका काम किया।

वे तमककर बोलीं—'अच्छी बात है, अच्छी बात है, तुम आज ही जाओ रूस। तुम्हें सौगन्ध है यदि न जाओ। मैं जानती हूँ, तुम्हारे अन्दर कितना विष भरा हुआ है। हाय, मुझे ईश्वरने ऐसी निकम्मी बना रखा है ! मुझपर दया करना छोड़ तुम जलेपर नमक छिड़क रहे हो ! छोड़ दो मुझे, तुम छोड़ दो ! तुम पुरुष जो हो ! इसलिए एक स्त्रीको दूधकी मक्खीकी भाँति निकालकर फेंक देनेमें तुम्हें जरा भी दर्द न होगा। तुम्हारी जाति ही निर्दय है। ईमान तुम्हारे नहीं है। बेईमान हो तुम पुरुष—बेईमान, अधर्मी, झूठे, दगाबाज !'

मुझे जैसे किसीने उठाकर पटक दिया हो। मैं हड़बड़ाकर उठ खड़ा हुआ। उनकी ओर मैंने देखा, आँखोंसे चिनगियाँ बरस रही थीं, नथुने फूल गये थे, साँसोंकी धौंकनी चल रही थी। आग मेरी ही लगाई हुई थी, मैं स्वीकार करता हूँ; किन्तु शब्दोंसे मैं बिंध गया था। तीखे तीर थे विष बुझे। एक क्षणके भीतर मेरा पशु जाग उठा, मेरा पुरुष जाग उठा। इस औरतकी मजाल कि पुरुषको गाली दे सके! इतना साहस! दूसरे ही क्षण मैं निढाल हो गया—मनमें, सारे शरीरमें, विरक्त-सी उत्पन्न हो गई। मैं धम्मसे चारपाईपर पड़ रहा। सोचा, ठीक कहा। जो कुछ उन्होंने कहा, ठीक ही तो कहा। हमारी परम्परा है—हमारे संस्कार हैं। हम उनसे एकाएक छुटकारा नहीं पा सकते। शताब्दियोंसे जिन बन्धनोंने हमारे मन जकड़ रखे हैं, उन्हें एक ही क्षणमें तोड़ देनेसे यह इमारत चकनाचूर हो जायगी। उसे फिर खड़ा करनेकी हिम्मत है किसमें?

इसी देशमें एक राजा था। एक रानी थी। राजाने अपने पुरुषको दुष्कीर्तिसे बचनेके लिए स्त्रीको घरसे निकाल दिया। रानी जंगलोंमें भटकी। पत्नीने पुरुषका अनुशासन स्वीकार किया, किंतु पुरुषसे भिन्न उस पत्नीका नारीत्व विद्रोह कर उठा। उसने कहलवाया—तुमने अपने स्वार्थके वशीभूत होकर मुझे घरसे निकाल दिया। तुम्हारा कुलाभिमान मिथ्या है। तुम नीच हो, दगाबाज हो।'

मैंने सोचा, संस्कार बलवान होते हैं। संस्कारोंसे ही यह नारी, जो मेरी पत्नी है, भीगी बिल्ली-सी मेरी दासता स्वीकार किए रहती है। संस्कारोंसे हटकर इसका नारीत्व अभी-अभी विद्रोह कर उठा है। परम्परा सच्ची है।

अब तक उनका गुस्सा ठण्डा पड़ गया था। वे आकर मेरे पैरों-तले बैठ गईं और रुँधे कण्ठसे बोलीं—'देखो मुझे माफ़ करो। तुम नाराज़ हो गए हो? क्यों? मेरी यह निगोड़ी जबान! क्या करूँ? लो, जला दो इसे—लो, जला दो।'

मैंने मुस्कराकर कहा—'अच्छा आजकी पढ़ाई हो चुकी। अब कुछ खानेको दो, भूख लगी है। साढ़े आठ बज चुके हैं। मुझे पुस्तकालय जाना है।'

वे खाना लेने गईं। मैं सोच रहा था, यह तो वही नित्यका रूप है। पर वह कौन थी, जिसने अभी-अभी विद्रोहकी वंशी फूँक दी थी? वह कौन थी?

'बहुजनसुखाय

उसका नाम है मगन कैप्टन। कहते हैं, वह कविता किया करता है—ऐसी कविता, जिसमें तुक नहीं, छन्द नहीं, लय नहीं, गति और अर्थ नहीं; जिसे कविता ही नहीं कह सकते।

उसे 'कप्टेन'का खिताब दिया गया है। लोगोंको शायद उसके असली नामसे ही सन्तोष नहीं था। मगन यदि 'मगन कैप्टेन' न होता, तो मनुष्योंकी इस दुनियामें शायद उसका अस्तित्व ही न रह पाता। मगन नामके व्यक्तिको लोग देखते जरूर—चलते, फिरते, सोते, जागते, खाते, पीते; ठीक उसी भाँति, जैसे दूसरे मनुष्य। किन्तु जो चीज़ बगैर इस खिताबके नहीं हो सकती, वह है उसका अस्तित्व—उसका निजी व्यक्तित्व। मगन नामका मनुष्य बिना 'कैप्टेन' जोड़े व्यक्ति ही नहीं!

तीसरी बात, जो उसके व्यक्तित्वसे सम्बन्ध रखती है, उसका पागल होना है। लोग उसे 'पागल' भी कहते हैं। उनके लिए उसका पागल होना भी उतना ही अनिवार्य है, जितना उसका कैप्टेन होना। उसके पागल बने बिना, उसे कैप्टेन बनाए बिना, लोगोंके मनोरंजक स्वार्थको धक्का जो पहुँचेगा।

तो पागल मगन कैप्टेनका व्यक्तित्व निजी नहीं है। वह लोगोंका है। लोगोंने ही मिल-जुलकर मगन कैप्टेन-रूपी स्वांगको खड़ा कर रखा है। अस्थि, मज्जा और मांसके बने गतिशील, उस दुनियावी पुतलेकी भी एक

कहानी है—जो आज भी चल रही है और उस समय तक चलती रहेगी, जब तक वह रहेगा और लोग रहेंगे।

मगन कैप्टेन युवक है। आज उसकी अवस्था अधिकसे अधिक २८ सालकी होगी। स्वस्थ देह, मांसल पेशियाँ, ठिंगना-सा क़द। अक्सर एक कमीज और जाँघिया पहने रहता है। सिर नंगा, पैरोंमें जूता-चम्पल नदारद। कहते हैं, उसके बाप है, माँ है, भाई हैं। और सबसे बड़ी बात—भले ही वह हर्षकी हो या विषादकी—यह है कि उसकी शादी कई साल पहले ही हो चुकी है। पागल कवि मगन कैप्टेनके गलेमें लोगोंने चुपचाप एक पशु-समान मूक नारीका अंचल भी बाँध दिया है। बहुधा सड़कपर उसे देख, वे ही लोग अंगुली उठकर कहा करते हैं—'वह मगन कैप्टेनकी लुगाई है!' इन शब्दोंको सुनकर वस्त्रोंकी कई तहोंमें छिपा उसका पत्नीत्व छुईमुईकी भाँति कितना सिकुड़ जाता होगा, देखा है किसीने? उसके रोम-रोमसे व्रीड़ा, जुगुप्सा, घृणा और रोषकी जो निर्धूम ज्वाला-सी उठती होगी, जानी है किसीने? ख़ैर।

मगन कैप्टेनको घूमनेका शौक है। मई-जूनके महीनोंमें बारह बजे दिनको उसे शहरसे बाहर सड़कपर टहलते आप देखेंगे। सर्दीके मौसममें धूपकी चाँदनीमें स्नान करना उसे बहुत ही पसन्द है। वह चलता है बड़ी ही मस्तानी चालसे। सीना ताने, सिर ऊपर उठाए, दोनों मुट्ठीबन्द हाथोंको फ़ौजके सिपाहियोंके-से वेगसे आगे-पीछे घुमाते हुए, सड़कके ठीक बीचोंबीच वह चहलक़दमी करता रहता है। कैप्टेनकी पदवी जो मिली है उसे, कुछ मज़ाक़ तो है नहीं।

मगन कैप्टेनको कोई व्यसन छू तक नहीं गया है। कहनेको तो लोग कहते हैं, वह शराब पीता है। एक दिन उसके मुहल्लेका एक लड़का कहता था, वह चरसकी दम लगाया करता है। वैसे अफ़ीमचियोंकी-सी पिनक उसपर सवार रहती ही है। किन्तु यह सब है झूठ। उससे पूछो, साफ इन्कार कर जायगा। कहो, लोग जो कहते हैं, तो कहेगा—'अच्छी बात है, मैं सभी कुछ करता हूँ। शराब पीता हूँ, गाँजा, अफीम, भंग, चण्डू, जो कहो, सो

पीता हूँ। बस, अब तो खुश हो ?' तो मगन कैप्टेनने जनमतको इतनी निर्विरोध श्रद्धाके साथ सिर-आँखोंपर लिया है। किसी भी बातको 'बहुजन-सुखाय' स्वीकार कर लेना जैसे वह अपना धर्म समझता है।

स्वाभिमान उसमें गजबका है। जो काम कठिन हो, असामान्य हो, मगन कैप्टेनसे कहिए, कर दिखाएगा। हार मान जाना गोया उसकी शानके खिलाफ़ है। उसके ऐसा करनेमें लोगोंकी जो तमाशाई प्रवृत्ति है, उसे संतोष मिलता है। उससे कहो—'कैप्टेन साहब, इस छतसे नीचे कूदो, तब जानें।' वह चालीस फीट ऊँची छतसे नीचे कूद पड़नेको तैयार हो जायगा। भय प्रदर्शन करनेवाला कैप्टेन कैसा ? नीचे कूदनेसे हाथ-पैरोंकी नश्वर हड्डियाँ यदि टूट जायँ, तो इसकी उसे चिन्ता नहीं। उसे जो पीड़ा होगी, उससे लोगोंका क्षणिक मनोरंजन तो होगा ! क्षण-भरके लिए—'वाह कैप्टेन, वाह कैप्टेन !' के नारे, कुछ सामूहिक अट्टहास और छिपी घृणाकी हँसीके साथ 'पागल है' का स्वर तो सुनाई देगा !

लोग मनुष्य हैं, तो क्या पशु नहीं ? कौन कहता है कि मानवका पूर्वज बन्दर पशु नहीं था ? क्या कभी अपने अस्तित्वके लिए दूसरेको पीड़ा देना उसके लिए साधारण-सी बात नहीं थी ? दूसरेको छटपटाते, कराहते, प्राण त्यागते देख क्या उसका मनोरंजन नहीं होता था ? यह बीसवीं सदी है अवश्य; परन्तु मनुष्यका पशुत्व तो सनातन है। रोमके नागरिक क्या मनुष्य नहीं थे ? रोमन सभ्यता आखिर मनुष्योंकी ही सभ्यता तो थी। कानून, क़ायदे, रोमन-ला इत्यादि शब्द कहाँसे उद्भूत हुए ? रोमसे ही न ? तो उसी रोमके एम्फ़ी थियटरमें जीवित सिंहकी दाढ़ोंसे छिन्न-भिन्न किए जाते एक स्वस्थ सम्पूर्ण मानव-शरीरकी कहानी सुनी है ? और सुना है कि दर्शकोंकी वाहवाहोंके तुमुल नादमें विलीन होता हुआ उसका आर्त्तनाद ?

उन्हीं 'लोगों'की सन्तुष्टिके लिए यदि मगन कैप्टेन शारीरिक यन्त्रणा भोगता है, तो भोगे; क्या हानि है ! उनका मनोरंजन होता है, उसकी आन रह जाती है।

एक बार मगन कैप्टेनके शहरमें हैजा फैल गया। धड़ाधड़ लोग मरने लगे। गन्दगी काफ़ी थी, बीमारीका बढ़ जाना लाजमी था। सौमें साठ

परिवार रोगसे आक्रान्त थे। गलियोंमें साँय-साँय-सी मची थी। बाजार बंद, दूकानें सूनी। अदृश्य कुहरे-सी मौतकी छाया नगर-भरमें छा गई थी।

किन्तु बुधुवा तमोलीकी दुकानपर रातके बारह बजे तक रौनक रहती। दूसरी दूकानोंपर कड़ुवे तेलके चिराग़ तक मयस्सर नहीं थे; पर उसके यहाँ पेट्रोमैक्स जलता रहता था। इस चहल-पहलके दो कारण थे। एक तो बुधुवाकी दूकानसे सटकर शराबके ठेकेकी दुकान थी। शामको आठ बजेके पश्चात् शराबियोंका समूह वहाँ जुटना प्रारम्भ हो जाता। दूसरे, सोना कहारिन उसीके सामने सड़कपर बैठी-बैठी अपने जूठे और अस्वस्थ स्त्रीत्वका मोल-तोल करती रहती थी। शराबके पियक्कड़ और सोनाके खरीदार ही बुधुवाके मुख्य ग्राहक थे।

मगन कैप्टेनका प्रधान अखाड़ा भी बुधुवाकी दुकान ही था। आसपासके तमाशाई उसके चारों ओर इकट्ठे हो जाते और रातके बारह-एक बजे तक बत्तीसियाँ खिलखिलाते रहते। उस रात मगन कैप्टेन कुछ उदास था। वह बुधुवाकी दुकानपर मौन बैठा हुआ था। अभी-अभी सात अर्थियाँ उसके सामनेसे निकल गई थीं। आख़िरी मुर्दा एक नौजवानका था, जिसे मगन कैप्टेन उन्हीं दिनों कुश्तीके दाँव-पेंच सिखा रहा था। वह शायद सोच रहा था कि 'घोड़ा-पछाड़' दाँवके पहले उसने लड़केको 'मृत्यु-पछाड़' क्यों नहीं सिखा दिया? मौतके ये जुलूस कैप्टेनके हृदयपर अजीब-अजीब छायाएँ डाल रहे थे। उसकी अभिव्यक्तिहीन कविता अन्दर-ही-अन्दर घुट-घुटकर हिलोरें मार रही थी। अन्दर-ही-अन्दर वह रो रहा था। पागलपनमें बचपन-की भी पुट होती है और बचपनमें आनन्दकी धाराएँ मिली होती हैं। मृत्युकी विष-भरी गन्दगी उसकी गति क्षीण कर देती है। पागल कैप्टेनकी सारी हँसी खुशी मुरझा-सी गई थी।

लोगोंको उसका चुप्पी साधे बैठा रहना अब अखर-सा गया। एक बोला—'आज तो भई, कैप्टन साहब उदास हैं, कुछ मज़ा नहीं आ रहा है।

दूसरा बोला—'उदास है तुम्हारा सिर! कप्तानको गुस्सा आ गया तो ऐसा मींज देंगे, जैसे मच्छर! सिट्टी भूल जायगी तुम्हारी।

'जी हाँ'—तीसरेने सुर मिलाया—'मींज देना मज़ाक है न! ऐसे कौन पहलवान हैं? नाम-ही-नाम सुना है हमने, काम करके दिखाएँ जब है।'

'काम देखोगे ? अरे यार अभी परसोंकी तो बात है, कप्तानने पाव-भर लाल मिर्च खा डाली थी ! जनाब उफ् तक नहीं की थी, उफ् तक !

इतनेमें सोना कहारिन चहक पड़ी—'पाव-भर मिर्च खा जायँ तो चवन्नी दूँगी एक ।'

अब मगन कैप्टेनसे न रहा गया । उसके स्वाभिमानको चुनौती जो मिल रही थी । गम्भीर स्वरमें वह बोला—'पाव-भर कौन-सी ज़्यादह हैं ? आधा-सेर लाओ, तो भी चबा जाऊँगा सब ।'

अबकी बुधुआ बोला—'एक रुपया दूँगा नक़द ! आधा सेर मिर्च खाकर दिखाओ, तब जानें ।'

लोगोंको मुँहमाँगा मनोरंजन मिल गया । फिर क्या था, पाँच मिनटोंके भीतर ही आधा सेर लाल मिर्च आ गई । कैप्टेनने खाना शुरू किया । एक-दो-तीन-दस-बीस कैप्टेनके जबड़े चल रहे थे । गलेसे गटक-गटककी आवाज़ आ रही थी । आँखोंसे झरने बह रहे थे, परन्तु मुँहसे सीत्कारका नाम तक नहीं । लोग दाद दे रहे थे—'वाह कैप्टेन साहब, वाह-वाह !

मिर्च खा ली गई । बुधुआने पराजित-भावसे टेंटसे रुपया निकाला और कैप्टेनके सामने किया । कैप्टेनने कहा—'रखो भी, यार ! मैं कोई सरकसका खिलाड़ी नहीं जो फीस लूँ । रखो इसे ।'

कैप्टेनको पान खिलाया गया । खाकर वह उठा और चल दिया । पहले कुछ फुसफुसाहट हुई, फिर क़हक़हे लगे'—पागल है जी, निरा पागल ! मरने भी दो बचाको ।'

[३]

रातके बारह बज चुके थे । श्मशानमें सात चिताएँ जल रही थीं । एक और पेड़के सहारे खड़ा हुआ कैप्टेन निर्निमेष नेत्रोंसे सातवीं चिताकी ओर देख रहा था : शायद कृष्णपक्षकी दशमी थी । चिताओंके प्रकाशका एक सीमित वृत्त बन गया था । सीमाके बाहर अन्धकार लहरें मार रहा था : चिताओंके आस-पास कुछ लोग बैठे थे । कुछ खड़े थे । कैप्टेन सोच रहा था, जैसी अग्नि इन चिताओंमें धू-धू कर रही है, वैसी ही उसकी छातीके

अन्दर भी क्यों जलने लगी है ? उसे लग रहा था, मानो उसके अन्दर सब अंगारे-ही-अंगारे भरे हैं। पेटकी अंतड़ियां कच्ची लकड़ियों-सी चटक रही थीं। एकाएक उसके पेटमें बड़े जोरोंकी ऐंठन हुई, कैप्टेनका शरीर काँप गया। एक आह भरकर, पेट पकड़कर, वह वहीं बैठ गया।

सात चिताओंमेंसे एक बुझने लगी थी। लोग उसको आगको कुरेदने लगे थे। सबसे इस ओरवाली चिता उसी नौजवानकी थी, जिसे कैप्टेन कुश्ती सिखाता था। हैजा हुआ और बेचारा मर गया।

एक और मरोड़ हुई। 'उफ्, मर गया रे !'—तड़प उठा कैप्टेन और लोट गया वहीं जमीनपर। उसे लगा, जैसे जलती अंगुलियोंसे कोई उसके प्राण खींचे ले रहा हो। एक बार ऐंठन फिर हुई। शरीरकी सारी नसें खिच आईं—जैसे टूट जानेकी सीमा तक खिंचे सितारके तार। कैप्टेनकी चेतना पंख फड़फड़ाने लगी थी। बाहरका सारा शून्यमय अन्धकार उसके मस्तिष्क-में आकर इकट्ठा हो रहा था। उसी शून्यमें एक आशंका कौंध गई—कहीं उसे भी हैजा तो नहीं हो गया !

लाशें जलाकर कुछ लोग लौटे। कैप्टेनको वहाँ पड़ा देख एक वहाँ आया और पहचानकर बोला—'कौन है, मगन कैप्टेन !'

'आह मरता हूँ, मरता हूँ !'—कैप्टेन कराहा।

दूसरे लोग भी इकट्ठे हो गये थे। एकने व्यंगका बाण छोड़ा—'कैप्टेन साहब ज्यादा पी गए मालूम होता है !'

'ही-ही, खी-खी' मच गई वहींपर—वहींपर, जहाँ हँसनेवालोंकी ही भाँति सात मनुष्य-जातिके पशु चिताओंपर जल रहे थे ! वहींपर, जहाँ कदाचित् मृत्यु और जीवनकी मिलन रेखा दृष्टिगोचर हो सकती थी।

कैप्टेन बेहोश था। 'पड़ा रहने दो जी'—दूसरे ने कहा—'सुबह तक होशमें आयँगे बच्चू, तब अपने-आप घर चले जायँगे।'

लोग चले गए। एक-एक करके सातों चिताएँ अंगार-शेष रह गईं। अन्धकारकी लहरोंने प्रकाशको निगल लिया। पेड़के नीचे कैप्टेन बेहोश ही पड़ा रहा। आध सेर मिर्चोंका तमाशा पूरा नहीं हो पाया था। खिलानेवाले वहाँ मौजूद नहीं थे, वरना देखते, खुश होते, वाह-वाही देते !

* * *

दूसरे दिन नौ बजे बुधुआने अपनी दुकान खोली। उसी समय मगन कैप्टेन उस ओरसे निकला। उसका चेहरा पीला पड़ गया था। आँखें अंगारों-सी दहक रही थी। ज्वरसे शरीर जला जा रहा था। बुधुआने चौकन्ना होकर पूछा—'क्या बात है, कैप्टेन साहब? कुछ तक़लीफ़ है क्या? मिर्चे नुक़सान तो नहीं कर गई?'

'अजी नहीं, आध सेर मिर्चे मेरा क्या बिगाड़ सकती है? मैं अभी उतनी ही और खा सकता हूँ!'—कैप्टेनने इतना ही कहा। किन्तु बिना रुके ही आँखें नीची किए वह आगे बढ़ गया। बुधुआके होठोंपर नफ़रत खेल गई।

जरा-सी बात

सतीशकी भाभीके विषयमें इतना कह देना पर्याप्त होगा कि सतीशने उन्हें भाभी यों ही बना लिया था। असलियत यह थी कि उनसे उसका कोई भी रिश्ता नहीं था। आप पूछेंगे, तो उसने उन्हें भाभी ही कहना क्यों पसन्द किया? जहाँ रिश्तेके अभावमें रिश्ता बनाना हो, वहाँ और भी तो कई नाम हैं। सतीश उन्हें चाची, मामी, बुआ, ताई, कहता: और सबसे सच्चा सरल रिश्ता है बहनका। किसी भी नारीके निकट पहुँचना हो, उसका स्नेह, वात्सल्य तथा सहानुभूति प्राप्त करनी हो, उसे बहन कहकर पुकारिए। नारी-के हृदयमें अपरिचित भाईके प्रति भी कंजूसी कभी नहीं हो सकती।

परन्तु सतीश कहता है, चूँकि मनोहर बाबूको वह बड़ा भाई मानने लगा था, इसलिए उनकी बहू अपने-आप उसकी भाभी बन गई। अब भले आदमीसे यह तो पूछिए कि मनोहर बाबू साधारण-से परिचयके नाते एका-एक बड़े भाईके पदपर कैसे पहुँच गए, तो इस तर्ककके आगे सतीशकी सिट्टी भूल जाती है। बेचारा भोंदू है—पूरा भोंदू। तर्क करने लगिए, और वह अपने दिलके तमाम राज आपके आगे खोल देगा।

सतीश कहता है, यह आजसे कोई आठ वर्ष पहलेकी बात है। वह एन्ट्रेंस पास करके काम सीखनेके लिए मनोहर बाबूके साथ रहने लगा था। उनके यहाँ रहनेका कारण यह था कि वे सतीशके चाचाके अभिन्न मित्र थे। आशा थी कि काम-वाम सीखकर वह भी उन्हींके दफ्तरमें २५-३० रुपल्लीका

क्लर्क बन जायगा। किन्तु सतीश न तो उनके यहाँ अधिक समय तक टिक ही सका और न उसे उनके आफ़िसमें नौकरी ही मिल सकी। ऐसा क्यों हुआ? उत्तर देनेके लिए, यदि उस जमानेका सतीश होता, तो चटसे कह देता—'भाग्यका चक्र था, उसका क्या ज़ोर?' परन्तु आजका सतीश 'भाग्य' नामकी चीज़को "परिस्थिति' कहना सीख गया है। कहता है, परिस्थितियाँ कुछ ऐसी ही हो गई थीं कि उसने मनोहर बाबूके घरमें अधिक रहना ठीक नहीं समझा। और सिद्धान्त रूपमें सतीश यह भी कह देता है—चूँकि इन्सान बुद्धिवादी है, इसलिए बुद्धिका परिस्थितियों द्वारा संचालन होना चाहिए। मार्क्सने ऐसा कहा है।...'

खैर, सतीश अपनी भाभीके घर कुल डेढ़ महीने रहा और उसके बाद चला आया। पहला कारण यह था कि इन बनावटी भैया और भाभीके प्रति जैसी-कुछ धारणाएँ बनाकर वह चला था, यथार्थमें बातें उससे उल्टी ही सिद्ध हुईं। भाभीके बारेमें उसने सुन रखा था कि बड़ी खराब हैं—यानी वे कुछ ...यानी वे...ऐसी हैं, वैसी हैं। छिः छिः, लोगोंको किसीको बदनाम करते देर लगती है!

मनोहर बाबूने तीसरी बार यह विवाह किया था। पहली दो स्त्रियाँ मर चुकी थीं। अब इनकी उम्र थी कोई १७ वर्षकी। बलाकी खूबसूरत थीं। सीधी-सादी, और हँसोड़ इतनी कि जिस दिन सतीश उनके यहा पहुँचा, उसी दिन दो-चार औपचारिक बातोंके पश्चात् वे कहने लगीं—'भई, कोई रिश्ता जोड़ लेना चाहिए हम दोनोंको। एक ही घरमें जो रहना है।... मैं तुमसे क्या कहूँ?...क्या कहा करूँ?...अरे हाँ, ठीक तो है—देवर। बस-बस, तुम मुझे भाभी कहा करोगे, क्यों? बताओ, कहोगे न?'

यह भी खूब रही! सतीश बन गया देवर और वे बन गईं भाभी! मनोहर बाबूको सतीशने उसी शामसे भाई साहब कहना शुरू कर दिया। तो सतीशकी भाभी अत्यन्त सुन्दर थीं, हँसोड़ थीं, सीधे-सादे मिजाज़की थीं और विचारोंमें कुछ-कुछ वैसी थीं, जिसे आप लोग अरूढ़िवादी कहा करते हैं। वे स्त्री होनेके पहले एक पतिकी पत्नी थीं, क्योंकि जहाँ स्त्री सामान्यसे उठकर विशिष्ट बनी कि उसका व्यक्तित्व नहीं रह जाता। कुमारी हुई, तो

किसी सज्जनकी लड़की, विवाहके बाद किसी सज्जनकी पत्नी; पति मर गए, तो उन्हीं सज्जनकी विधवा कही जायगी। उसका अपना निजी व्यक्तित्व गोया पुरुषोंकी छायामें मिल जाता है।

इन बातोंकी चर्चा चलनेपर सतीशकी भाभी कहतीं—'स्त्रीको पत्नीके रूपमें न देखकर एक अलग व्यक्तिके रूपमें देखना चाहिए। वह पुरुषसे भिन्न है। स्त्री पुरुषकी छाया नहीं। पति अपनी संगिनीको पत्नी कह ले; परन्तु दुनिया भरके लिए वह पत्नी कैसे हो गई?

ऐसे ही कई विचित्र विचारोंके कारण भाभी बदनाम हो गईं। दुनियाके अपने स्थिर विचार हैं; वह किसीके व्यक्तिगत विचारोंको क्यों मानने लगी? लोग कहते, सतीशकी भाभी खराब हैं। सतीशकी भाभी कहतीं, दुनिया खराब है। सतीश किसकी माने? लेकिन जो सत्य वह अपनी आँखों चौबीसों घण्टे देख रहा था, उसे वह कैसे अस्वीकार कर दे? भाभीको असीम सौन्दर्य मिला था, दुनिया इसीलिए उनसे नाराज थी। बातचीतमें, आपसी व्यवहारमें, भाभी जरूरतसे ज़्यादा साफ़ रहती थीं। दुनिया इसीलिए उन्हें बेहया और बदचलन कहा करती थी। भाभीके विचार कुछ ऐसे थे कि दुनिया डरती थी ऐसी औरतोंसे।

दूसरी तरफ़ मनोहर बाबूके विषयमें लोगोंने नारीफ़के पुल बाँधे थे। आदमी है कि देवता! क्या कहने हैं! हजारोंमें एक है। डेढ़ सौ रुपये मिलते हैं। पूरा अफ़सर है; मगर घमंड रत्ती-भरको भी नहीं। कपड़े कैसे पहनता है? उससे अच्छे तो उसीके दफ़्तरके चपरासी पहना करते हैं। बेचारेको औरत ऐसी मिली है कि पूरी चुड़ैल! अपना-अपना भाग्य है। ऐसा खाविन्द मिला है, वरना अब तक बाजारमें बैठी नजर आती। कहीं ऐसी औरत भी घर-गृहस्थीके लायक होती है?

इस हो-हल्लेके बीच सतीशको लगा कि इन्सानकी दुनियामें कहीं-न-कहीं कुछ गड़बड़ है। तमाम लोगोंके, मालूम होता है, देखनेको कपारपर आँखें हैं ही नहीं। मनोहर बाबूके बारेमें सतीश कहता है, वे आदमी जरूर हैं, पर देवता नहीं। वैसे लोगोंने बनानेको ८४ लाख देवता बना रखे हैं; पर उन्हें किसने देखा है? इसलिए मनोहर बाबूको आदमी ही मानना पड़ेगा।

सीधे-सादेको यदि मूर्ख कहें, तो मनोहर बाबूके विषयमें लोगोंका कथन सत्य है। कपड़े-लत्तेके विषयमें वे जो उदासीन रहा करते थे, उसका कारण यह था कि उनकी सूरत ही वैसी थी। मोटा भदभद शरीर, कौवेका-सा रंग, गना क़द और डेढ़ फीट आगे बढ़ी हुई तोंद। ऐसा आदमी सजधजकर तभी रहेगा, जब उसे नौटंकीमें स्वांग भरना हो। तक़दीर थी, जो इतनी सुन्दर और सुघड़ गृहिणी मिल गई, वरना आजके जमानेमें भला कौन बछियाका ताऊ उन्हें अपनी लड़की सौंपेगा?

सतीशको मालूम हुआ, मनोहर बाबू परले दरजेके शक्की जीव हैं। दफ़्तरसे आते ही पत्नीके सामने खड़े होकर उसे सिरसे पैर तक देखते और पूछते—'तुम क्या कर रही थीं? आज यह माँग टेढ़ी क्यों निकाली है?' इन प्रश्नोंका उत्तर सन्तोषजनक मिल जाता, तो कहते—'आज मेरे दफ्तरके चपरासी कह रहे थे कि तुम दोपहरको खिड़कीपर बैठी थीं। सच है, क्यों? आज दिनमें कोई आया था यहाँ? तुमने उससे बातें की थीं?' प्रति दिनका यही रोना था मनोहर बाबूका।

एक दिन सिनेमा देखकर लौटे, तो बैठकमें टेबिलपर रखा एक सिगरेट केस दिखाई दिया। मनोहर बाबू सिगरेट नहीं पीते थे। उसे लेकर सतीशके कमरेमें आए और पूछने लगे—'तुम सिगरेट पीते हो? यह तुम्हारा तो नहीं है?'

सतीशके इनकार करनेपर वे सीधे पत्नीके पास पहुँचे। बोले—'आ कौन आया था यहाँ?'

'कोई भी तो नहीं।' भाभी रसोईमें थीं और पतिदेवके आनेका इन्तजार ही कर रही थीं।

'बनती क्यों हो?' कैसे कोई नहीं आया था? यह सिगरेट-केस किसका है?'—मनोहर बाबूने चूल्हेमेंसे जलती लकड़ी उठा ली और पत्नीके मुँहके पास ले जाकर कहा—बताओ न, कौन आया था यहाँ?'

अबकी वे रोने लगीं। मनोहर बाबूने जलती लकड़ी उनके गालोंसे छुआ दी! सतीशको उस समय तो यह सारी बातें मालूम नहीं हुईं; पर दूसरे दिन जब उसने भाभीका फूलों-सा कोमल गाल जला हुआ देखा, तभी सारा क़िस्सा उसने सुना और यह भी सुना कि उसके थोड़ी ही देर बाद मनोहर

बाबूके एक मित्रका नौकर दौड़ा हुआ आया था। वे जब सिनेमा जा रहे थे, तो उन्हें लिवाने यह मित्र महाशय वहाँ पधारे थे और जाते समय अपना सिगरेट-केस भूल गए थे!

सुनते हैं मनोहर बाबूने रातको सोते समय अपनी पत्नीसे पूछा था—'आज अच्छा खासा मज़ाक़ रहा, क्यों? भई वाह!'

जिनका जीवित मांस जलाया गया था, वे चुप ही रहीं। उन्होंने उफ तक नहीं की थी। सतीशने कहा—'भाभी, तुम्हारी जगहपर कहीं मैं होता, तो भैयाका गला घोंट डालता!'

भाभी हँसकर बोलीं— 'छिः-छिः, कैसी बात कहते हो! वे मेरे मालिक हैं। मारें पीटें, जो करें, मेरा क्या ज़ोर है?'

सतीश मुँह बनाकर बोला—'तो तुम्हारे विचार कोरे ही कोरे हैं? पतिके अत्याचारके विरुद्ध...।'

'यही तो बात है लाला! तुम समझते नहीं हो। वे मुझे अत्यन्त प्यार करते हैं, मैं इस बातको खूब अच्छी तरह जानती हूँ, वरना आज तक गलेमें फाँसी लगाकर मर गई होती। जहाँ प्यार सीमाको लाँघ जाता है, वहाँ सन्देहकी भी सीमा टूट जाती है। वे दिन-रात डरते हैं कि मैं किसी दूसरेकी न बन जाऊँ।'

विचित्र-विचित्र विचार होते हैं कुछ-एकके। सतीशको सबके सब अनोखे लग रहे थे—अनोखी भाभी, अनोखे भैया, अनोखी दुनिया! सबके दिमाग़ फिर गए हैं, या स्वयं वही पागल हो गया है! और पागल होनेकी बात भी थी। ऐसे झमेलेमें आ फँसेगा, यह तो सतीशने कभी न सोचा था। मनोहर बाबूके दफ्तरमें काम सीखनेकी जो बात थी, उसका भी कोई सिलसिला नहीं बँध रहा था। 'आज बड़े साहब दफ्तर ही नहीं आए। उस दिन उनका ठीक मूड नहीं था। एक चपरासीको मार-पीट दिया था। कोई जगह भी तो खाली नहीं होती। कोई कमबख्त छुट्टीपर भी तो नहीं जाता।' बस, इन्हीं बातोंमें सतीशके दिन बीत रहे थे। दूसरी ओर भाभीकी शोहरत, मनोहर बाबूका शक्की मिजाज और संसारका अनोखापन—यह सारी बातें उसे चक्करमें डाल रही थीं। सतीश सोचता, घरसे वह अच्छे मुहूर्तमें नहीं चला था।

पूछिए, किसीकी बदनामी या बुरे स्वभावसे उसका क्या प्रयोजन? अपने कामसे काम। दुनियामें हजार बातें हुआ करती हैं। कौन-कौन-सी बातका हिसाब कोई रखे? सतीशकी स्थिति एक दर्शककी-सी थी। तमाशा देखे और चलता बने। परन्तु दर्शक अपना दिल पेड़पर रखकर नहीं चला करता। सतीश अपने आसपासके वातावरणसे अछूता भला कैसे रहे? इधर दो-चार दिनोंमें उसे मालूम हुआ कि दुनिया उसपर भी कीचड़ उछालने लगी है। थोड़े दिनोंसे पड़ोसका एक लड़का उसका परिचित हो गया था। कम्बख्त अपनी तरफसे सतीशका लँगोटिया यार ही बन बैठा था। एक दिन आमके पेड़के नीचे सतीशके गलेमें हाथ डालकर कहने लगा—'यार, तुमने बुलबुल तो अच्छी फाँसी है!'

सतीशने विस्मयसे पूछा—'बुलबुल कैसी?'

'ओफफोह! बनते हो, दोस्त! यह जो बिना रिम्तेकी भाभी बनी हैं, वह क्या यों ही?

अब सतीशकी समझमें आया। तो यह बात है! सतीशने उसकी नाक-पर ऐसा घूसा मारा कि बच्चू चारों खाने चित हो गए। सतीश भरा हुआ सीधा घर आया। भाभी वहीं थीं। लौकी या कद्दू, मालूम नहीं, कुछ छील रही थीं। आते ही आते वह बोला—'भाभी, मैं जा रहा हूँ—अभी! मैं यहाँ अब एक सेकेण्ड भी नहीं रह सकता।'

भाभी अपने काममें ही लगी हुई बोलीं—'ठहरो, मुझे तरकारी छील लेने दो, फिर चले जाना।'

सतीश और भी गरम होकर बोला—'यह मजाककी बात नहीं है, भाभी! आग लगी हुई है मुझे—जानती हो?'

'आखिर लग ही गई न!'

'क्या...?'

'आग!'—भाभी खिलखिला पड़ीं।

सतीशका तमाम गुस्सा ठण्डा पड़ गया। बोला—'भाभी, जानती हो, दुनियामें कितनी बदनाम हो तुम? इतनी अच्छी होकर भी...।'

'जिसकी बदनामी हो रही है, उसे तो कुछ भी चिन्ता नहीं है; लेकिन तुम्हें क्यों इतना बुरा लग रहा है?'

'इसलिए कि तुम्हारे साथ मैं भी...।' कहते-कहते सतीश रुक गया। गन्दी बात थी, जो वह कहने जा रहा था।

वे बोलीं—'कहो न, क्या कह रहे थे ? मेरे साथ तुम भी...।'

'तुम्हारे साथ मैं भी बदनाम हो रहा हूँ।'

'बदनाम ! किस प्रकार ?'

'लोग समझते हैं कि...यानी...मैं...यानी...।'

'क्या ? कहो भी तो।'

सतीश अबकी झुँझला गया—'मैं तो आज ही जाता हूं, भाभी ! इतनी-सी बात भी नहीं समझ पाती हो ? ऐसे खोद-खोदकर पूछती हो, जैसे नादान हो—छोटी बच्ची हो।'

सतीश क्या करे इन भाभीको ? इतना गम्भीर विषय होनेपर भी वे हँस रही है, कहती हैं—'समझ गई मैं सब, लाला ! इसमें क्रोधकी या लज्जाकी कौन-सी बात है, बताओ न ! दुनिया जो-कुछ समझती है, ठीक समझती है। सारेके सारे लोग मूर्ख तो हैं नहीं।'

सतीशने पूछा—'तो तुम्हारा मतलब है...।'

'हाँ-हाँ, मेरे कहनेका मतलब है कि तुम्हारे और मेरे बीच क्या वैसा सम्बन्ध नहीं संभव है, जैसा कि लोग समझते हैं ?'

'बस हो गया, भाभी !' सतीश काँपते गलेसे कहने लगा—'मैं तुम्हारे पैरों पड़ता हूँ, इस तरह मुझे काँटोंमें मत घसीटो। आज ही मैं चला जाऊँगा। तुम लोग सबके सब विचित्र जीव हो ! मेरी समझके बाहर...।'

वे बोलीं—'दुनिया कभी ऐसी बातें नहीं समझा करती, जो अस्वाभाविक हो, गैरमुमकिन हो। और दुनिया चूँकि दुनिया है—व्यक्ति नहीं, इसलिए अत्यन्त प्राकृतिक और मामूली जो बात होगी, वही उसकी समझमें आयगी। एक-एक व्यक्तिकी भिन्न-भिन्न पेचीदगियाँ सुलझानेकी उसे फुर्सत नहीं। उसे दोष देना अच्छा नहीं, सतीश बाबू !'

सतीश मिट्टीके पुतले-सा खड़ा ही रह गया। वह क्या कहे, क्या न कहे ! भाभीका ऐसा रूप उसने पहले कभी नहीं देखा था। बोला—'भाभी, मैं तो समझता था कि तुम...।'

'क्या समझते थे कि मैं दूधकी धोई संगमरमरकी पुतली हूँ, क्यों ? तुम्हारे अन्दरसे पुरुषका स्वार्थ बोल रहा है। लाला, देवी बनाकर पुरुषोंने हमपर मनमाना अत्याचार किया है। सीता-सावित्रीके नमूने रच-रचकर हमें गुलामीका सबक सिखाया है। प्रत्येक पुरुष चाहता है, उसकी स्त्री सावित्री हो, नहीं तो बेचारीकी शामत आ जाती है ! मामूली-सी मनुष्य बने रहना उसके भाग्यमें नहीं !'

सतीशकी खाक भी समझमें नहीं आ रहा था। बोला—'भाभी, मुझे केवल एक उत्तर चाहिए। मैं जो समझता था कि तुम भाई साहबके अत्याचारोंके कारण उनसे प्रेम नहीं...।'

उसे बीचहीमें रोककर वे बोलीं—'सरासर गलत समझते थे तुम। मैंने आज तक सिवा उनके दूसरे पुरुषको प्यार करनेकी सोची तक नहीं है।' सतीशको आश्चर्यसे आँखें फाड़ते देख, वे फिर कहने लगीं—'क्यों उन्हें चाहती हूँ, यह भी सुन लो। सिवा कभी-कभी मारने-पीटनेके उन्होंने मुझे पूर्ण स्वतन्त्रता दे रखी है। इतने सीधे हैं, इतने बुद्धू हैं, इतने बेवकूफ हैं ! स्त्रीको और क्या चाहिए ? मार खाती हूँ, सो उनका पुरुषत्व उग्र रूपसे मुझे प्यार करता है। आजकलके सुसंस्कृत पुरुषोंकी भाँति लल्लो-चप्पो करना उन्हें पसन्द नहीं। स्त्री रेशम-से नाजुक प्यारकी अपेक्षा पत्थरका-सा ठोस प्रेम अधिक पसन्द करती है। समझे सतीश बाबू ?' फिर बोलीं—'मैं अब तुम्हें रोकना नहीं चाहती, लाला ! दुनियामें मिलकर तुम्हें रहना है, उसके विरुद्ध नहीं। जीवनमें अभी बहुत-कुछ सीखोगे, और किसी दिन यह सारी बातें तुम्हारी समझमें आ जायँगी।'

दूसरे दिन अटैची-केस और होल्ड-आल लेकर सतीश जाने लगा, तो मनोहर बाबू बोले—'भई, पागल हो रहे हो क्या ? थोड़े दिन सब्र करो। नौकरी ऐसे थोड़े ही लगी जाती है ?'

सतीशने कहा—'बेकार बैठे-बैठे जी उकता गया है। जरा घर हो आना ठीक होगा। कोई जगह खाली हो, तो तार कर दें, मैं आ जाऊँगा।'

मनोहर बाबू चले गए। सतीशने ताँगेमें सामान रखा और सवार होना चाहा, उसी समय दरवाजेसे आवाज आई—'एक बात सुनते जाओ, लाला !

जब वह निकट आया, तो वे बोलीं—'जा रहे हो ?' सिर उठाकर उसने देखा उनकी आँखें डबडबा रही थीं। किवाड़की ओट होकर वे कहने लगीं—तो जाओ, लाला, तुम्हें मैं रोक नहीं सकती; परन्तु अपनी इस भाभीकी एक बात यादरखना। दुनियामें रहकर भी, अलग होकर उसे समझनेकी कोशिश करोगे, तो पार लग जाओगे, वरना सभी लोगोंकी भाँति तुम भी...।'

सतीशने कहा—'मैं समझा नहीं।'

भाभी शायद हँस पड़ीं। बोलीं—'ज़रा-सी बात भी नहीं समझे ?'

सतीशको प्रणाम करनेका भी अवसर नहीं मिला। खट्से दरवाजा बन्द हो गया।

* * * *

उसके बाद कई साल तक सतीश उस ज़रा-सी बातको समझनेकी उधेड़-बुनमें लगा रहा। भाभीके भविष्यके बारेमें अक्सर वह सोचा करता, एक-न-एक दिन वे घरसे भाग निकलेंगी। आखिर कब तक कोई अत्याचार सहन कर सकता है ? परन्तु न तो वे घरसे भागीं और न उन्होंने गलेमें फाँसी ही लगाई। कुछ दिनों पूर्व सतीशने सुना कि उसकी भाभी अत्यन्त सामान्य स्त्रीकी भाँति एक पुत्रीको जन्म देनेकी पीड़ामें इस लोकसे चल बसीं।

भावुकता

जबसे लड़ाई शुरू हुई, न जाने कितनी क़समें खा चुके हैं कि चाहे जान चली जाय, परन्तु यात्रा नहीं करेंगे। रेलकी मुसाफिरीमें कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं यदि तुम्हें गिन गिनकर बताने लगें तो लोग समझेंगे हम उन्हें बेवकूफ समझते हैं, जैसे हमारे सिवाय किसी दूसरेने रेलका सफर ही न किया हो।

लेकिन इधर तो यह निश्चय किये बैठे थे कि यात्रा नहीं करेंगे, उधर मार्चके महीनेमें बीस तारीखसे हम लोगोंकी परीक्षा होनेवाली थी। परीक्षाके लिए ग्वालियर जाना आवश्यक था। दस-बीस मीलकी बात होती तो साइकिलों-पर या बैलगाड़ियोंपर चले चलते, परन्तु यह पूरे एक सौ पैंतालिस मीलका सफ़र था, और परीक्षार्थी कुल दो जने थे, मैं और मेरा एक साथी। आखिर बात किसी भी तरह न टली तो निश्चय हुआ कि इस यात्राको किसी भी प्रकार पूरी करके आइन्दा सफ़र न करनेकी अडिग प्रतिज्ञा कर लेंगे।

प्लेट फार्मपर गाड़ीकी प्रतीक्षा करते समय सोचा था कि जहाँ तक बनेगा उस डिब्बेमें नहीं बैठेंगे जहाँ पलटनके सिपाही अधिक संख्यामें हों, वरना पूरी यात्रा खड़े खड़े ही करनी पड़ेगी। दूसरी कई उलझनें सामने आयेंगी सो अलग।

बाम्बे मेल आनेवाली थी। स्टेशनपर कुल दो मिनट या इससे भी कम ठहरती थी। सिगनल डाउन होते ही हम दोनों अपने अपने अटैची और बिस्तर सँभालकर खड़े हो गये।

ट्रेनके आते ही निश्चित किया हुआ कार्यक्रम सब हवा हो गया। ढूँढ़-कर अच्छी जगह पानेके बजाय हम लोग जो डिब्बा सामने आया उसीमें चढ़ बैठे।

जब गाड़ी चलने लगी, तब कुछ फुर्सत-सी पाकर भीतरका दृश्य देखना प्रारम्भ किया। थर्ड क्लासका डिब्बा, एक छोरसे दूसरे छोर तक खचाखच भरा हुआ। सबके सब सिपाही, सबके सब खाकी वर्दीमें, भिन्न भिन्न पलटनोंके बैज अपने कंधोंपर लगाये हुए।

हम दो ही व्यक्ति ऐसे थे जो सिपाही नहीं थे। इसीलिये डिब्बेके अन्दर हमारा प्रवेश शायद उन्हें अच्छा नहीं लगा। हमें दरवाजेके निकट खड़े होनेकी जगह मिल गई थी, यही बहुत था।

जब गाड़ी चली तो एक हलका-सा धक्का लगा, धीरे धीरे स्टेशनकी इमारत, प्लेटफार्म और उनपर खड़े मनुष्य, ठेलेवाले मजदूर, दुकानदार एक एक करके सामनेसे गुजरने लगे। गाड़ीने रफ्तार तेज की। मेरा साथी जो मुझसे सटकर खड़ा था मुझीपर लुढ़क-सा गया।

"क्या सिपाही इन्सान नहीं हैं?—लोग आखिर इतना बदनाम करते क्यों हैं?...देखो बेचारे दो भलेमानुस कबसे खड़े हैं, मगर किसीसे इतना भी न हुआ कि बैठनेको जगह दे देता।...इसीलिये तो लोग..."

मैंने घूमकर देखा। अधेड़ उम्रका एक हवालदार पाखानेके पास फर्श-पर दरी बिछा कर बैठा हुआ था।

"आइये भाई साहब, आप दोनोंमेंसे एक तो कमसे कम यहाँ बैठ सकता है। और दूसरेको भी कहीं न कहीं..." हवालदारने मुझे अपनी ओर देखते देखकर कहा।

दोनोंमेंसे एकको बैठनेका स्थान मिल रहा था। मैंने अपने साथीसे कहा—"जाओ, बैठ जाओ।"

"कहाँ बैठूँ? वहाँ, पाखानेकी बू सूँघनेके लिए?"

"अजी क्या खुशबू क्या बदबू—भाई जान, यह तो मुसाफिरी है। मुझे देखिये, कल शामसे यहीं डेरा डाले बैठा हूँ।...और...कहाँ जायँगे आप

लोग—" हवालदारने पूछा ।

"भाड़में," मेरे साथीने फुसफुसाकर कहा—

"जी ?"

"ग्वालियर—" मैंने उत्तर दिया ।

मेरा साथी बोला—"कुल तीन घण्टेका रास्ता है, हवालदार साहब, पहुँच ही जायेंगे किसी तरह ।"

अब तक दूसरे फौजियोंका ध्यान हम लोगोंकी तरफ आकृष्ट हो गया था। मेरे सामने बैठा हुआ एक सिक्ख, जो शायद एम० टी० का ड्राइवर था, बोला—

"ओ जी, ए...गवालेर किद्दर है ? गवालेर ?"

"गवालेर ?—वह है नरकके पास !"—मेरे साथीने मुँह बनाकर उत्तर दिया ।

"नरक ? ए कोण-सा शेर है !"

और तब एक खुली हँसीके शोरसे सारा डिब्बा गूँज उठा । बाँई ओरकी बेंचपर एक मद्रासी सिगनेलर लंबा लेटा हुआ था । वह अचानक उठ खड़ा हुआ । जैसे बिच्छूने डंक मार दिया हो । और मेरा और मेरे साथीका हाथ पकड़ कर बोला—

"यहाँपर बैट जाओ तुम लोक !"

"और, तुम कहाँ बैठोगे ?—" मैंने पूछा ।

"अम ? अरे अम बी बैट जायगा—तुम बैटो, बैटो..."

हम दोनों बैठ गये । मदरासी कुछ देर खिड़कीकी राह बाहर देखता रहा। फिर गाड़ीका दरवाजा खोलकर बाहरकी ओर पैर लटकाये हुए वहीं बैठ गया। गाड़ीकी रफ्तार बहुत तेज़ थी, शायद ४० मील शायद ५० या और भी अधिक...

पहाड़, झील, नदी, नाले खेतों और बंजर जमीनपर धड़धड़ाती हुई डाक-गाड़ी दौड़ी जा रही थी । मेरा साथी मेरे कंधेपर सिर रक्खे ऊँघ रहा था । कमरेके सभी मुसाफिर कभी एक ओर कभी दूसरी ओर झुक-झुक पड़ते थे, मानों कोई अदृश्य शक्ति उन्हें एक ही तान, एक ही गतिसे झूला झुला रही ।

'नरक कोण सा शैर है' पूछने वाले सिक्खने मुझसे प्रश्न किया—"तुसी शादी नहीं किया साथी ?"

"शादी ? हाँ, हो तो गई !"

"तुमारा बीबी किद्दर है ? गवालेरमें ?"

"हाँ," मैंने झूठ मूठ कह दिया। वह थोड़ी देर चुप रहा। बाहर जहाँ तक उसकी दृष्टि जाती थी, शायद उससे भी परे देखता रहा। फिर बोला—"तुसी तकदीरमंद है साथी, हमारी भी नई शादी हुआ था। तीन महिना बाद अब लामपर जाता है। कोण बोल सकता ? हम मरेगा या वापस आयेगा ?"

दरवाजेपर बैठे हुए मदरासीने घूमकर पूछा—"कित्ता बड़ा है तुमेरा औरत—?"

"सोलह सालका !"—सिक्खने कहा।

"सोला साल ! ओ—!" मदरासीने निःश्वास छोड़ते हुए कहा, "अमारा औरत भी सत्तरा सालका है, अम भी तो छोड़कर आया है।"

गाड़ी उस समय एक पुल परसे होकर जा रही थी। कड़कड़ाहटके मारे एक दूसरेकी आवाज नहीं सुनाई दे सकती थी। मैंने बाहर झाँककर देखा, एक छोटी-सी नदी, स्वच्छ नीला जल, दोनों किनारे लबालब भरे हुए, इठलाती हुई जा रही थी अपनी राहपर। सारी दुनियासे बेखबर-सी होकर—

हृदयमें ठेस-सी लगी।

सोला साल ! सत्तरा साल !! पूर्ण यौवन !!! और इठलाती नदी।

अब हम गेहूँके पके खेतों परसे गुजर रहे थे। कभी कभी कोई छोटा-सा गाँव सर्रसे निकल जाता। गाँवके कुत्ते रेलगाड़ीको देखकर भूँकने लगते, और बहादुरीके साथ कुछ दूर दौड़ भी लेते थे। कभी खेतकी मेंड़परसे होकर जाती हुई कोई ग्रामीण स्त्री दिखाई देती रेलकी आवाज सुनकर वह खड़ी हो जाती। भय, आश्चर्य और उत्सुकता भरी आँखोंसे हमें देखती।

धीरे धीरे दिन ढलने लगा और साँझ उतरने लगी। रेलगाड़ी भागी जा रही थी.. भागी जा...

"एक्सीडेंट ! ओ !! ओ—रोको ! एक्सीडेंट !—" मेरा साथी पागलों-सा चिल्ला उठा।

दूसरे क्षण मैंने उसे जंजीर खींचते देखा। एक बड़े जोरका धक्का लगा।

गाड़ीके ब्रेक चीं-चीं कर उठे। एक ही सेकण्ड पहले पचास मीलकी गतिसे दौड़ती हुई बाम्बे-मेल निश्चल हो गई।

इससे पहले कि मैं स्वयं कुछ पूछूँ, मैंने सुना मेरा साथी गार्डसे कह रहा था—"यहाँ दरवाजा खोलकर एक मदरासी सिपाही बैठा था, अभी-अभी गिर पड़ा है—देखिये उसे —"

गाड़ी लौटाई गई। देखा—

सिर फट गया था, हाथकी बेत छिटक कर तारोंसे उलझ रही थी, सिर-की पगड़ी लुढ़क कर खड्डेमें जा गिरी थी। एक व्यक्ति उसकी नाड़ी देख रहा था।

"जिन्दा है ?"

"हाँ, चोटसे बेहोश हो गया है, लेकिन मरेगा नहीं, मामूली घाव है।" वे लोग उसे उठाकर दूसरे डिब्बेमें ले गये, गाड़ी फिर चलने लगी।

"ओह कितना करुण ओह !"—मेरा साथी रुँधे गलेसे बड़बड़ा रहा था। मैं चुप था।

सामनेवाला सिक्ख एकाएक बड़े जोरोंसे रो उठा और शीघ्रतासे उठकर पाखानेके अन्दर चला गया।

डाकगाड़ी एक बार फिर रुकी, ग्वालियर आ गया था। हम लोग उतर पड़े. दो छोकरे गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रहे थे—

—"हिन्दू चाय।"—"मुसलमान चाय।"

पगले कहींके ! मेरा दम घुटा जा रहा था। जल्दी जल्दी टिकट देकर हम लोग स्टेशनसे बाहर आये, ताँगा किया और चल दिये।

कालिदासके दो चित्र

१

आजसे डेढ़ हजार वर्ष पहलेकी बात है। आर्यावर्तकी राजधानी पाटलिपुत्रपर अस्त होते हुए सूर्यकी किरणें वासन्ती रंग बिखेरने लगी थीं। भागीरथीकी छोटी-छोटी लहरियोंपर दीपक टिमटिमा उठे और बुझ गये। पश्चिमी आकाशपर सरसोंके फूलोंका रंग छा गया।

उत्तरी प्राचीरके बाहर उद्यानमें एक पुरुष टहल रहा था। लम्बी आकृति, स्वस्थ मांसल शरीर, तप्त स्वर्णका-सा रंग, पिंगल केश, आजानुलम्बी बाहु-युगल। पीले रंगकी धोती उसने पहिन रक्खी थी। कन्धोंपर हलके नीले रंगका चीनांशुक था। एकाएक वह ठिठककर खड़ा हो गया। क्षण-भरको उसने डूबते प्रकाशकी ओर देखा। क्षण-भरके लिए अन्दरसे निकलते उच्छ्वासके झोंकेसे उसका वक्षःस्थल कम्पित हो उठा, क्षण-भरके लिये मानो इतनी देरके मौनको यथासाध्य तोड़ते हुए अर्द्धस्फुट स्वरमें उसने कहा—"ओह डूब गया!"

पासमें ही मालतीकुञ्जके पार्श्वसे होता हुआ एक और व्यक्ति वहाँ आ पहुँचा। नीरवमें कहा हुआ वाक्य कदाचित् उसने सुन लिया था। बिना किसी प्रकारके अभिवादनके उसने भी दुहराया—"हाँ, डूब गया।"

पहला पुरुष चौंका, घूमकर देखा। आगन्तुकको पहिचाना और कहा—"अरे तुम! आओ निचुल, मित्र!"

दोनों साथ साथ टहलने लगे। पाटलि पुत्रके मन्दिरोंमें संध्याकी आरती होने लगी थी। पटह-वादन तथा तूर्यनादसे वातावरण मुखरित हो उठा। पहला पुरुष ठिठककर खड़ा हो गया। आम्रवृक्षके नीचेसे पुंजीभूत होकर आगे बढ़ते हुए अन्धकारको देखकर बोला—"आजके दिवसकी समाप्ति मानो असमयमें ही हो गई। बन्धु, आजकी संध्या बड़ी ही रंग-हीन, गौरवहीन और फीकी-फीकी-सी लगी।"

निचुलने पूछा—"ऐसी भ्रान्ति होनेका कारण ?"

"मुझे स्वयं समझमें नहीं आता। सूर्य तो अस्त होनेके ही लिये प्राचीसे निकलता है। उषाके कपोल सदा लज्जाके रंगमें नहीं रंगे रह सकते, नित्यप्रति प्रत्येक व्यक्ति दिन ढलनेकी ही प्रतीक्षा करता है। किन्तु, नित्यप्रति होनेवाले प्राकृतिक व्यापारोंको मनुष्य उसी रंगमें देखता है, जिसमें आस-पास-की परिस्थितियाँ उसके विचारोंको डुबो देती हैं।" कुछ देर स्तब्ध रहकर उसने पुनः कहा—"आज मुझे अपनी जन्मभूमिका स्मरण हो आया है मित्र, काश्मीरका सौन्दर्य इन आँखों नहीं भुलाया जा सकता। मेरी कल्पना-का मूल स्रोत वहीं है। मेरी कविता वहींके फूलोंके रंगमें रंगी है। मेरे गीतों-में वहाँकी वायुकी मूर्च्छना है। छोड़ना पड़ा बन्धु ! नियतिके सूत्रोंमें बँधे हैं हम लोग ! हृदयकी डोर उसकी तुलनामें बड़ी ही कच्ची होती है—हाँ, तो निचुल, उत्तरापथके कोई समाचार मिले ?"

"हाँ, हूणोंकी सेना गान्धारके छोर तक पहुँच गई है। मगध-सेनाके दो गुल्म-यवनोंद्वारा छिन्न-भिन्न कर दिये गये हैं।"

"और परमेश्वर परम-वैष्णव परम-माहेश्वर परम-भट्टारक महाराजाधिराज श्री....."

"...कुमारगुप्त क्या कर रहे हैं ? यही पूछना चाहते हैं न ? क्यों, वे तो आमूल-चूड़ान्त सुरा और सौन्दर्यके सागरमें डूबे हुए हैं। वीणाकी झंकार सुनते सुनते मगधके सम्राट्के कान प्रत्यंचानिर्घोष सुननेके योग्य नहीं रह गये हैं। भाग्यसूर्य अस्तप्राय है कवि, चन्द्रगुप्त और आर्य समुद्रगुप्तके बाहु-बलसे स्थापित किया हुआ, समुद्र-से-समुद्र-तक सीमिति गुप्त-साम्राज्य विलासी नरेन्द्रके हाथों नहीं सँभल सकता !"

सुननेवालेने लंबी साँस ली और कहा—"सब कुछ वैसा ही हो रहा है जैसी होनी थी। अकेली नियति ही मनुष्यके जीवनकी गति निर्णायक नहीं हो सकती। जिन जिन तत्त्वोंमें भाग्य नामक शक्तिका प्रादुर्भाव हुआ है, उनमें व्यक्तिका अपना चरित्र भी है। चरित्र ही भाग्य है, बन्धु !...अरे अभी अभीकी तो बात है। मेरे काश्मीरसे यहाँ चले आनेके कुछ ही महीने बाद युवराज कुमारगुप्त आर्यावर्तके एकच्छत्र सम्राट् बने थे। पाटलिपुत्रकी आबाल-वृद्ध जनता सन्तोषकी साँस लेकर विश्राम करने लगी थी। उसी समय समाचार

मिला, हूणोंने भारतकी शस्य-श्यामला भूमिकी ओर शनिदृष्टि डाली है। मैं उस दिन अग्नि-मण्डपमें नये महाराजके सम्मुख बैठा था। वृद्ध आमात्यके यह समाचार सुनानेपर कुमारगुप्तने अपने वंशके अनुरूप ही उत्तर दिया था। 'आर्य, ऐसी चिन्ता क्यों ? इस शरीरमें आर्य समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्तका रक्त बह रहा है। मेरे रहते गुप्त-साम्राज्य यवनों द्वारा पदानत न होगा'—

"सभासे लौटकर मैंने अपने काव्यके छठे सर्गमें एक नया श्लोक लिखाः—

"असौ 'कुमार'स्तमजोऽनुजातस्त्रिविष्टपस्येव पतिं जयंतः,
गुर्वीम् धुरं यो भुवनस्य पित्रा धुर्येण दम्यः सदृशं बिभर्ति ॥

और मेरे काव्यकी समाप्तिके पूर्व ही कुमारगुप्तके चरित्र हुआ.....ऐसा परिवर्तन हुआ....!"

"तुम्हारे काव्यको महाराजने पढ़ा तो बड़े ही चावसे"—निचुलने कहा।

"पढ़ लिया ? आदिसे अन्त तक ?"

"हाँ, आदिसे अन्त तक।"

"हूँ, और अग्निवर्णका वृत्तान्त भी पढ़ा महाराजने ?"

"हाँ।"

"तुम उस समय वहीं थे ?"

"हाँ।"

"तुमने देखा कि महाराजके मुखपर कैसा भाव था ?"

"हाँ, अग्निवर्णका वृत्तान्त पढ़कर महाराजने तुम्हारा काव्य एक ओर रख दिया और परिचारिकाको गौड़ीय सुराका एक पात्र भरकर लानेकी आज्ञा दी। मेरी ओर देखकर महाराजने कहा—'कालिदास सच्चा कवि है। सुरा और सौन्दर्यका वही आदर कर सकता है।...'

"हा बिडम्बने ! दिलीपकी तपस्यासे पनपे हुए रघुके वंशका अग्निवर्णके हाथों ह्रास होते पढ़कर भी समुद्रगुप्तके पौत्रके ऐसे भाव !!"

"सुराके तीन चार पात्र गलेके नीचे उँड़ेलकर महाराज कुमारगुप्तने पुनः मेरी ओर देखा और कहा—'जाओ ब्राह्मण, कालिदासको मेरी ओरसे धन्यवाद देना और कहना कि अग्निवर्ण तक आकर उनके काव्यकी समाप्ति अत्यन्त सुन्दर हो उठी है...और गुप्त वंश..."

"हाँ, हाँ, गुप्तवंश ?...क्या ?"

"बस, इसके पश्चात कुमारगुप्त एकाएक अन्तःपुरकी ओर चले गये—"

थोड़ी देर उद्यानमें फिरसे नीरवता छा गई। दोनों व्यक्ति अपने अपने विचारोंमें लीन वहाँ टहलते रहे। कुछ समयके उपरान्त कालिदासने कहा—"अबसे मैं कोई भी राजनीतिक काव्य नहीं लिखूँगा !"

२

इसके पश्चात आषाढ़ आया। ऐसे कितनी ही बार पाटलिपुत्रपर आषाढ़के मेघ छाये थे। कितनी ही बार ग्रीष्मतप्ता पृथ्वीने जलकी बूँदोंसे सिहर-सिहर कर सोंधी उसाँसें ली थीं। कितनी ही बार पाटलिपुत्रके उद्यानों-में मेघगर्जन सुन कर मोर नाच उठे थे। किन्तु वहाँके लाखों निवासियोंमेंसे किस-किसने वर्षाके प्रथम मेघपर ध्यान दिया था ? ऐसे कितने ही आषाढ़ आये और चले गये, वर्षा आई और चली गई। छहों ऋतुएँ आईं और फिर आईं। उनसे मानव-जीवन बना और समाप्त भी होता चला गया। परन्तु अबकी आषाढ़के मेघका जैसा अभिनन्दन हुआ, वैसा न कभी हुआ था, और न कभी होगा।

उस दिन भी संध्या धीरे धीरे उतर रही थी। पाटलिपुत्रके उपवनमें उसी भाँति कालिदास आज भी टहल रहे थे। ऊष्माकी अत्यधिक प्रबलता थी। वायु निस्पन्द थी। चारों दिशायें मानों दिवस-भरके तापको साराका सारा उगल रही हों। उपवनके वृक्ष प्राणहीन-से लगते थे। पत्ती-पत्ती संज्ञाहीन-सी दिखाई देती थी। कविका शरीर तो पाटलिपुत्रके उद्यानमें टहल रहा था, किन्तु उनका मन दूर, बहुत दूर, काश्मीरकी उपत्यकाओंमें विचरण कर रहा था। ऊष्माके आधिक्यसे उनका कौशेय उत्तरीय पसीनेमें लथपथ हो गया था। किन्तु उनके विचार अतीतके स्वप्न देशमें विचर रहे थे।

हिमाच्छादित पर्वतश्रेणी। उसकी छायामें बना एक छोटा-सा ग्राम। प्रान्त-वर्ती सरल-वृक्षोंके वनमें एक युवती बैठी है। कालिदास विस्मित-से, चकित-से, उसकी ओर देख रहे हैं और पूछ बैठते हैं :—

" कमले कमलोत्पत्तिःश्रूयते, न तु दृश्यते।
बाले, तव मुखाम्भोजे कथमिन्दीवद्वयम् ?"

युवती खिलखिला उठती है। उसकी हँसीमें नृत्य है, स्वरमें स्नेह है,

आँखोंमें मादक पूजा है।

कविका स्वप्न टूट गया। काश्मीरसे कविको आना पड़ा। क्यों? यह नहीं बता सकता कोई। पाटलिपुत्रमें जीवन व्यतीत हो रहा है। किन्तु जीवनमें रस नहीं है। जीनेके लिये ही जिया जा रहा है।

टहलते-टहलते कवि हठात् खड़े हो गये। उनके कानोंने एक ध्वनि सुनी थी। मन्द्र, गंभीर ध्वनि, जैसे किसीने मृदंगपर गमक लगाई हो। चकित नेत्रोंसे कविने इधर-उधर देखा। पासके वेणुकुंजसे मयूर बाहर निकल आया था। सुन्दर लंबी ग्रीवाको मोड़-मोड़ कर उसने भी चारों ओर देखा।

फिर वही ध्वनि! दूर, क्षितिजके उस पार, अन्तरीक्षके पीछेसे कोई गरज रहा था। इतनेमें पूरबकी ओरसे सरसराती वायु चल पड़ी, कविके कन्धों परसे उत्तरीय फहराने लगा। आवेग-प्रदीप्त नेत्रोंसे कविने देखा,—मयूरने अपने पंख फैला दिये हैं। चमकीले नीले पंखोंपर जैसे सहस्रों इन्द्रधनुषी आँखें खुल गई हों!

पुनः गर्जन हुआ। थिरकते पैरोंपर मुड़कर कविने प्राचीके क्षितिजको देखा—कृष्णवर्ण हाथीकी भाँति आषाढ़का मेघ ऊपर अधरमें झूल रहा था। कविने देखा—बादल और भी निकट आया। वायु और भी वेगसे बहने लगी। पृथ्वीपर एक विचित्र सौन्दर्यमयी श्यामलता छा गई। एकाएक ऐसा लगा मानो व्योममें सहस्रों उल्कायें जल उठी हों। श्वेत रंगकी बिजली बादलके शरीरमें सर्पिणी-सी पलभर लिपट कर कहीं खो गई। गम्भीर निनाद हुआ और गजमुक्ताके आकारकी एक बूँद कविके उन्नत मुखपर बरस पड़ी।

शरीरके रोम-रोम थिरक उठे। हृदय ताल देकर नाच उठा। आँखें आनन्दके जलसे भीग गईं। कविकी आत्मा ऊर्ध्वगामिनी बन कर 'महान्' के स्वागतको उद्यत हो गई।

'सन्तप्तोंके शरण, इन्द्रके कर्मचारी प्रकृतिपुरुष' के आगे नम्रतापूर्वक खड़े होकर, अंजलिमें कुटज-पुष्पोंको भर, अपने आपको 'धनपतिके क्रोधसे विश्लेषित अलकावासी एक यक्ष' बता, भारतकी एक कवि-सन्तानने उस दिन अपने हृदयकी समस्त वेदनाको गीतोंमें भर दिया।

'धूम, ज्योति, सलिल और मरुतसे बने मेघ' ने कविकी याचनाको सुना भी, या नहीं, कौन जानता है। काश्मीरकी पुण्यमयी घाटियोंमें वास करनेवाली कविकी प्रियतमा तक वह हवाई सन्देश पहुँचा भी या नहीं, कौन जानता है। किन्तु कविका अमर प्रयत्न असफल नहीं हुआ। उस समयसे आज तक, डेढ़ हजार बार, आकाशमें वर्षाके मेघका आगमन हुआ। उतनी ही बार हजारों लाखों कंठोंसे कविके उस गीतका अश्रु-सिक्त गद्‌गद् स्वरमें पाठ हुआ। मानव-जगतमें लाखों अभागे यक्ष उत्पन्न हुए। भाग्यका कठोर शाप उनपर बरसा। लाखों मानवी यक्षिणियाँ, कुसुमसदृश अपने आशाबन्ध सँभाले, 'सद्यःपाति प्रणयी हृदय' को लिये वेदनामें तड़प उठी। उस समय वियोगी कविका गीत उनके हृदयके सुरसे सुर मिला कर गूँज उठता होगा। उन्हें उसमें अपनी यातना भरी प्रतीत होती होगी। अपने अन्दरका सत्य उन्हें उसमें मिलता होगा।

किसी ऐसी ही संध्यामें, उत्तरायणमें, 'नीललोहित' भगवान्‌से अपनी आत्माकी मुक्तिकी कामना करते हुए, आर्यावर्तका वह अमर कवि-सम्राट् चुपचाप चल दिया होगा शिवलोकको। लोगोंने उसके नश्वर शरीरको भागीरथीकी सिकतापर भस्मसात कर दिया होगा।

किन्तु कवि मरता ही कब? वह तो जीवित है आज भी। आज भी इस समय व्योममें काले-सफेद बादल छाये हुए हैं। आज भी हममेंसे कुछेक शापित यक्षकी वेदनाको वहन कर रहे हैं। हममेंसे कई, दिनमें अधिक नहीं तो एक दर्जन बार गुनगुना उठते हैं :—

"मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्तिचेतः
कंठाश्लेषप्रणयिनि जने किम्पुनर्दूरसंस्थे?"

लावारिस

नैनीताल, ५ अप्रैल।

बहन वासन्ती,

आज एक हफ्ते बाद यह दूसरा पत्र तुम्हें भेज रहा हूँ। इस बीच मुझे तुम्हारे दो पत्र मिल चुके हैं। तुम बार-बार वही उलाहने देती रहती हो कि मैं अपने वचनके अनुसार प्रतिदिन एक पत्र नहीं लिखता। किन्तु ज़रा सोचो तो, मैं रोज़ाना तुम्हें लिखूँ भी क्या? वही एक-से नीरस दिन। सूर्यास्त तक सिवा बेकार बैठे रहनेके और कुछ काम नहीं। मैं यहाँ आया था अपने स्वास्थ्यकी उन्नतिके लिए: किन्तु, देखता हूँ, तुम लोगोंसे अलग रहकर अकेले समय बिताना कठिन हो रहा है।

पिछले पत्रमें मैंने नैनीतालकी प्रशंसा लिखी थी। यह स्थान सचमुच है भी स्वर्गीय। ऊँचे पहाड़की चोटीपर निर्मल जलसे लबालब भरा हुआ एक तालाब। उसके इर्द-गिर्द बसा हुआ सुन्दर नगर। प्रकृति और मनुष्यने मिलकर यहाँपर स्वर्गकी सृष्टि की है। परन्तु इतना होनेपर भी मनुष्यने मनुष्यत्व नहीं सीखा। जो एक दूसरेसे साम्य-भाव रखना ठीक नहीं जँचा। ऐसे सुन्दर स्थानमें भी—मैं देखता हूँ—घृणा, द्रोह, परस्पर असहयोगकी भावनाएँ लोगोंमें जड़ पकड़े हुए हैं। हज़ारों व्यक्ति आजकल यहाँ हवाखोरीके लिए आते हैं। सिवा आनन्द-प्राप्तिके उनका और कोई लक्ष्य नहीं। होटलोंमें एक दिनके दस-दस रुपये वे लोग देते हैं। सिनेमा, थियेटर, खेल-तमाशोंमें खुले हाथ रुपया खर्च करते हैं; किन्तु उन्हें राहमें कोई भिखमंगा मिल जाय, तो तुम जानती हो, वे क्या कहते हैं? उस समय ऐसे मौकोंके लिए 'रिज़र्व' किये हुए वाक्य उनके मुँहसे निकल पड़ते हैं—'जाओ, भाग जाओ—मजदूरी करो—भीख माँगनेकी आदत पड़ गई है तुम्हें—निठल्ले बैठे रहना अच्छा

लगता है, क्यों?'—इत्यादि। गरीबोंको एक पैसा देते समय उन्हें आदर्शवादी सिद्धान्तोंका स्मरण हो आता है।

तुम कहोगी, यह पत्र है या कोरी बकवास? किन्तु मनमें जो विचार जाग उठते हैं, उन्हें कैसे छिपा रखूँ? यहाँ कोई जान-पहचानका नहीं। जितने आदमी हैं, सभी अपने-अपने स्वार्थमें फँसे हुए हैं। किसीकी बातें सुननेकी उन्हें फुर्सत ही कहाँ। इसीलिए यह सब लिख रहा हूँ, ताकि यहाँ आकर मेरे जो विचार उत्पन्न हुए हैं, उनसे तुम भी परीचित हो जाओ।

पत्र समाप्त करनेसे पहले दो पंक्तियाँ और लिखना चाहता हूँ। कल सायंकाल मैं टहलनेके इरादेसे होटलसे बाहर निकला था। उसी समय एक व्यक्ति मेरे पास आया। देखनेमें पहाड़ी जान पड़ता था। सिरसे पैर तक गरीबीमें डूबा हुआ, कपड़े मैले कुचैले—एकदम चिथड़े—चेहरा पीला, आँखें भीतर धँसी हुई जान पड़ता था कि हफ़्तोंसे उसे भोजन न मिला हो। आते ही उसने पूछा कि क्या मैं उसे कोई काम दिला सकता हूँ? बेचारा बुरी हालतमें था। मैंने उसे बताया कि मैं यहाँ पहले-पहल आया हूँ। कहीं मेरी जान-पहचान नहीं, जो मैं उसे नौकरी दिला सकूँ। और स्वयं मुझे नौकरकी कोई आवश्यकता नहीं। मेरा उत्तर सुनकर वह निराश हो चला गया। जाते समय उसका चेहरा देखकर मेरी आत्मा काँप उठी थी। जीवनके संघर्षसे हताश होकर मनुष्य जब मृत्युकी कामना करने लगता है, तब उसके मुखपर भी वैसा ही भाव दिखाई देता है। कल रात-भर मैं बेचैन रहा। यही पछतावा मेरे मनको जलाए देता था कि मैंने उस गरीबको कुछ आर्थिक सहायता क्यों न दी? पत्र बहुत बड़ा हो गया है, इसलिए अब इसे समाप्त करता हूँ। तुम्हारे नये पत्रकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। और क्या लिखूँ।

तुम्हारा,

मनोहर

(२)

नैनीताल, १२ अप्रेल।

प्यारी बहन,

तुम्हारा पत्र मिला। मुझे यह जानकर बड़ा सन्तोष हुआ है कि माताजीने लम्बी तीर्थ-यात्रा करनेका विचार छोड़ दिया है। उसमें पुण्य-लाभ तो अवश्य

होता; किन्तु परेशानी भी कितनी होती ? मेरी तो राय है कि हरीशकी परीक्षा समाप्त होनेपर तुम सब यहीं चले आओ ।

आजकल मेरा मन न जाने क्यों उद्विग्न हो रहा है । नई जगहमें आनेपर जो स्फूर्ति मिली थी, वह भी लुप्त हो चली है । तुम जानती हो बहन, मेरा हृदय बचपनसे ही बहुत भावुक है । इसलिए यहाँपर नित्य ऐसी घटनाएँ, जिनका महत्त्व चाहे दूसरोंकी दृष्टिमें नहींके बराबर हो, मेरे हृदयपर गहरी छाप छोड़ जाती हैं ।

नैनीतालमें एक विचित्र बात मैंने देखी। बाँधके ऊपर बने हुए पोस्ट-आफिससे मल्लीतालके क्रिकेट-फील्ड तक एक साथ दो समानान्तर सड़कें बनी हुई हैं। पहली सड़क दूसरीसे कुल दो-तीन फीटकी ऊँचाईपर है। ऊपरी सड़कको 'माल रोड' या ठंडी सड़क कहते हैं। इसे कंकरीट और तारकोलसे जितना सुन्दर बनाया जा सकता था, बनाया गया है। नीचेकी सड़क यों ही ऊबड़-खाबड़ बनी हुई है । तमाशा यह है कि माल रोडपर अंग्रेज लोग या धनी प्रतिष्ठित हिन्दुस्तानी ही चल सकते हैं, और काले आदमी—जिनमें मजदूर, भिखमंगे या साधारण कोटिके व्यक्ति आते हैं—नीचेकी सड़कपर ही चलनेके अधिकारी हैं। इस तरह बड़ी सरलतासे हम लोगोंने मनुष्य जातिको दो श्रेणियों-में बाँट दिया है । आदमी-आदमीके बीच दीवार चुन दी गई है । मैं समझता हूँ, वे लोग जिनके पास दौलत है, बल है, प्रतिष्ठा है, केवल अपनेको ही मनुष्य समझते हैं और दूसरे सब पशुओंसे भी गए-बीते हैं !

बहन, कभी-कभी जब इन बातोंसे बड़ा ही दुःख होता है, तब मैं सोचता हूँ कि मनुष्य-योनि पाना किसी पूर्वजन्मके पापका ही फल है । इससे तो पशु होना अच्छा । पशुओंमें ऊँच नीचका कोई भेद तो नहीं । आज एक ऐसी दुःखद घटना यहाँ हो गई है, जिससे मेरा हृदय व्याकुल हो उठा है । पिछले पत्रमें मैंने जिस व्यक्तिके बारेमें लिखा था, वह मुझे आज फिर दिखाई दिया। मैं अपने कमरेके बाहरकी रेलिंगपर खड़ा होकर तालाबका दृश्य देख रहा था । चार-पाँच किश्तियाँ पानीमें तेजीके साथ दौड़ लगा रही थीं । किनारेपर बहुत-से लोग तमाशा देखनेके लिए इकट्ठे हो गए थे । इतनेमें मेरी दृष्टि सामनेकी सड़कपर जा पहुँची । देखा, वही पहाड़ी ठंडी सड़कसे होता हुआ

धीरे-धीरे इसी होटलकी ओर आ रहा है। आज तक मुझे यह नहीं मालूम था कि उस श्रेणीके मनुष्योंको माल रोडपर चलनेकी आज्ञा नहीं है, इसलिए उसे वहाँ देखकर किसी तरहका विचार मैंने नहीं किया।

सड़कके किनारे बेंचपर एक 'साहब' बैठे हुए किश्तियोंकी दौड़ देख रहे थे। साहब थे तो इसी देशके; किन्तु सिरसे पैर तक यूरोपियन वेशमें। शरीरका कृष्ण वर्ण, गोरोंकी नक़ल करनेपर भी, साफ़-साफ़ दिखाई दे रहा था। वह आदमी उनके सामने जा खड़ा हुआ और कुछ कहने लगा। मैंने समझा कि उनसे भी वही प्रार्थना कर रहा होगा, जो उसने आकर मुझसे की थी। साहब बड़े ग़ौरसे तमाशा देखनेमें लगे हुए थे। उसके पहुँचनेपर उनके आनन्दमें व्याघात पहुँचा। वे एकाएक बेंचसे उछलकर खड़े हो गये। उन्होंने आव देखा न ताव, चटसे एक ज़ोरका तमाचा उसके मुँहपर दे मारा। बेचारा ठीक सड़कके किनारे खड़ा था। उसके पैर लड़खड़ा गये और वह लुढ़ककर नीचेकी सड़कपर जा गिरा।

मैं अपने स्थानपर खड़ा न रह सका। पैरोंमें चप्पल पहने और नंगे सिर होटलसे बाहर निकलकर उस ओर भागा, जहाँ वह आदमी गिरा था। तब तक वहाँ लोगोंकी भीड़ जमा हो गई थी। मैंने देखा, ऊपरसे गिरनेपर उसका सिर एक नुकीले पत्थरसे टकरा गया था। .खूनकी धारा बहने लगी थी। वह भौंचक्का-सा होकर कभी लोगोंकी ओर देख रहा था, कभी अपने खूनकी ओर। काले साहब अपनी जगहपर ही खड़े थे। एक पुलिसमैन उनके पास आकर खड़ा हो गया था। वे उससे कह रहे थे—'देखो तो बदमाशको। माल रोडसे होकर पास आया और पैसे माँगने लगा। हट्टा-कट्टा, तन्दुरुस्त आदमी है—इसे क्या जरूरत थी भीख माँगनेकी? अगर माँगना ही था, तो वहीं नीचे खड़ा होकर माँगता। यहाँ आया हम लोगोंकी बराबरी करने—बेवकूफ़!'

तब तक घायल व्यक्ति उठकर खड़ा हो गया था। उसके पैर अभी तक काँप रहे थे। लोगोंके पूछनेपर उसने बताया कि कोई दस-बारह दिनसे वह नैनीतालमें है। मज़दूरीकी तलाशमें था; लेकिन वह नहीं मिली। आज तीन दिन हो गये, उसे खाना भी नहीं मिला है।

इसके बाद क्या हुआ, यह लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं। इस छोटे-से पत्रमें दुनिया-भरकी बातें कहाँ तक लिखूँ। तुमने मेरे स्वास्थ्यके विषयमें पूछा था, सो मैं तो जरूरतसे ज्यादा मोटा होता जा रहा हूँ; किन्तु उदासीनता दिन-पर-दिन बढ़ती ही जाती है। आज कानपुरसे बसन्तकुमारकी चिट्ठी आई है। लिखता है, वह नौकरीसे तंग आ गया है और जल्दी ही इस्तीफ़ा देना चाहता है। बड़े ही स्वतन्त्र विचार हैं मेरे इस मित्रके। शेष अगले पत्रमें लिखूँगा। तुम अपना हाल-चाल बराबर लिखती रहना।

तुम्हारा, मनोहर

नैनीताल, १५ अप्रैल।

४

बहन वासन्ती,

अभी तीन दिन पहले मैंने तुम्हें एक पत्र भेजा था। आज फिर यह लिख रहा हूँ। तुम्हारा भेजा हुआ पुलोवर मिला। आह, कितनी अच्छी हो तुम! कितनी मधुर! कितनी स्नेहमयी! परन्तु अपने जिस भैयाका तुम इतना अधिक ध्यान रखती हो, जिसकी चिन्तामें ही तुम दिन-रात घुली जाती हो, वह कितना अकर्मण्य, कितना अपदार्थ जीव है!—यह भी कभी सोचा है तुमने? खैर, जाने दो इन बातोंको। इस समय, जब मैं यह पत्र लिख रहा हूँ, रातके दस बजे हैं। आज दिन ही में लिखनेको सोचा था; किन्तु आलस्यके मारे नहीं लिख सका।

आजका दिन बड़ा ही मनोरम था। प्रातःकालके समय आकाशमें बादल छा गए थे। कोई दो घंटे तक खूब बारिश हुई। सारा नैनीताल धुलकर साफ हो गया। सायंकाल सूर्यास्तके बाद मैं होटलसे बाहर टहलनेके लिए निकला। उस समय बिजलीकी बत्तियाँ जल उठी थीं। तालाबके बाईं ओर पाषाणदेवी-का मन्दिर है। मैं टहलते-टहलते उसी ओर निकल गया। तब तक खूब अँधेरा छा गया था। देवीके मन्दिरमें केवल एक मिट्टीका दीया जल रहा था, जो मेरे पहुँचनेके पहले ही बुझ गया था। मन्दिरमें उस समय कोई व्यक्ति नहीं था। चारों ओर नीरव शान्ति थी। मैं सड़कके किनारे एक चट्टान-पर जाकर बैठ गया। उस समय नैनीताल एक साथ दो प्रकारके दृश्योंमें बँटा

हुआ था। एक ओर मेरे आसपास गाढ़ा अंधकार छाया हुआ था। इसके विपरीत दूसरी ओर माल रोडपर तल्लीतालसे मल्लीताल तक बिजलीकी प्रकाश-मालाएँ दिनका-सा उजेला फैला रही थीं। पाषाणदेवीका मन्दिर घने अंधकार-में सिर उठाए चुपचाप खड़ा था और ठीक उसीके सामने कुछ दूरीपर कैपिटल थियेटर रंग बिरंगी बत्तियोंसे जगमगा रहा था। नैनीतालका यह दोहरा रूप देखकर एक अनोखी भावना मेरे मनमें जाग उठी। मैंने सोचा, मानव-जगत् भी इसी प्रकार दो हिस्सोंमें बँटा हुआ है—एक ओर सुख है, तो दूसरी ओर दुःख। जीवनके एक पहलूमें आशा है, तो दूसरेमें नैराश्य। जहाँ प्रकाश है, वहीं अंधकार भी।

क्या खूब! तुम कहोगी, यहाँ आकर मुझे कविता सूझने लगी है। किन्तु यह बात नहीं है बहन, यह तो मेरे विक्षिप्त विचार हैं। बे-सिर-पैरकी उजड़ी हुई भावनाएँ, जिनका बाहुल्य हो जानेसे हृदयमें उफान आने लगता है। विचारोंकी टकराहट होने पर इच्छा होती है कि उनमेंसे कुछको किसी दूसरेपर प्रकट कर दूँ।

वहाँ बैठे-बैठे जब एक घंटेसे भी अधिक समय बीत गया, तो मैंने लौट चलनेकी सोची। आकाशमें पुनः बादल छाने लगे थे। पहाड़ी प्रदेशमें बारिश होते देर नहीं लगती, इसलिए मैं जल्दी-जल्दी क़दम बढ़ाता हुआ होटलकी ओर रवाना हुआ। उसी समय अपने पीछे मन्दिर के घाटपर मुझे आहट-सी सुनाई दी और पानीमें किसी भारी वस्तुके गिरनेका-सा शब्द हुआ। मैं चौंक-कर खड़ा होगया। कई तरहकी शंकाएँ पैदा हुईं। मैं लौटकर घाटके पास जा पहुँचा। मेरी जेबमें एक टार्च था। उसकी रोशनीमें मैंने देखा, सीढ़ियोंके निकट जलमें छोटी-छोटी लहरें उठ रही हैं। जान पड़ा, जैसे अभी-अभी कोई चीज़ पानीमें गिरी है, इसके अतिरिक्त और कुछ भी न दिखाई दिया। मैंने सोचा, शायद एक बड़ा-सा पत्थर लुढ़ककर तालाबमें जा गिरा है, उसीसे वह शब्द हुआ होगा। मैं वहाँसे चला आया, लेकिन इस धारणासे मुझे संतोष न हुआ। अभी तक एक अज्ञात आशंकासे मेरा हृदय काँप रहा है। मैं तुम्हें पत्र लिख रहा हूँ; किन्तु मेरा ध्यान उसी ओर है।

अब मैं लिखना बन्द करता हूँ। बहुत लिख चुका। इस तरहके पत्रोंसे तुम भी उकता गई होगी। शेष तुम्हारा पत्र मिलनेपर लिखूँगा।

तुम्हारा ही,
मनोहर।

(४)

नैनीताल, १६ अप्रैल।

बहन वासन्ती,

ये दोनों पत्र तुम्हें साथ ही साथ मिलेंगे, दूसरा पत्र पहलेका पूरक है। बिना इसके कलवाले पत्रका विषय अधूरा रह जाता है। आज सुबह मैंने सोचा था कि पहली डाकसे तुम्हें पत्र भेजकर फिर टहलने निकल जाऊँगा। किन्तु ज्यों ही अपने कमरेसे बाहर निकला, उसी समय होटलका रसोइया दौड़ा हुआ मेरे पास आया और कहने लगा—'बाबूजी, वह मर गया बेचारा!'

मैं एकाएक चौंक पड़ा। मुझे समझमें ही न आया कि वह क्या कह रहा है। मैंने अकचकाकर पूछा—'क्या कह रहे हो? कौन मर गया?'

'अरे वही, जो उस दिन आपके पास आया था',—उसने कहा, 'वही आदमी, जिसे एक साहबने तमाचा मारा था ठंडी सड़कपर।'

मैं जैसे आस्मानसे गिरा। इस नये समाचारसे मेरे मनमें जो विचार उत्पन्न हुआ, उसमें किस भावका प्राधान्य था—दुःखका, करुणाका अथवा आश्चर्यका—यह मैं अब तक नहीं समझ पाया हूँ। रसोइया ब्राह्मणने मुझे बताया कि कल रातको न जाने किस समय उस आदमीने पाषाण देवीके घाटपर तालाबमें कूदकर आत्म-हत्या कर ली। आज सुबह उसके शरीरको पानीपर उतराते हुए कुछ लोगोंने देखा। उसे बाहर निकाला गया; परन्तु वह मरा हुआ था।

मैं जब वहाँ पहुँचा, तो उस समय कई लोग जमा हो गये थे। परन्तु उससे पहले ही पुलिसके कर्मचारी पोस्ट मार्टमके लिए लाश उठाकर ले गये थे।

मुझे निराशा-सी हुई। मैं मृत व्यक्तिको एक बार देखना चाहता था। ऐसी इच्छा मेरे मनमें क्यों पैदा हुई, यह मैं स्वयं नहीं जानता। लेकिन मैं समझता हूँ कि मनकी यह साधारण प्रवृत्ति थी—तमाशा देखनेकी उत्सुकता नहीं।

वहाँ जितने मनुष्य थे, सभीके चेहरोंसे उद्विग्नता झलक रही थी। विभिन्न प्रकारके मत प्रकट किये जा रहे थे। कोई कह रहा था—'बेचारा नौकरी खोज रहा था। नहीं मिली, तो डूबकर मर गया।' किसीकी राय थी—'भीख माँगकर गुजर तो कर ही लेता था। मालूम होता है, उसे कोई अन्दरूनी दुःख था, इस लिए उसने आत्म-हत्या कर ली।'

मेरे अपने विचार कुछ और ही थे। मैं सोच रहा था कि उसकी मृत्यु-में कोई प्रधान रहस्य नहीं था। भूखकी ज्वाला जब शांत न हो सकी, तो उसे आत्मघात ही छुटकारेका सरल उपाय जँचा। एक बड़ी भारी सर्वव्यापी समस्या—'रोटीका सवाल'—उसके सामने आ खड़ी हुई। उस समस्याको किसी तरह हल होते न देख उसने मृत्युके द्वारा उसका समाधान कर लिया।

जब मैं वहाँसे लौटकर आ रहा था, तो रास्तेमें एक स्त्री और पुरुष बातें करते चले जा रहे थे। स्त्री कह रही थी—'देखो न, अभागेकी मौत भी कैसी हुई? कोई आँसू बहाने तकको नहीं!'

तब पुरुषने कहा—'जाने भी दो उस बातको। लावारिस था, मर गया, तो किसीका क्या बिगड़ गया?'

अब अधिक लिखनेकी सामर्थ्य नहीं है बहन, तुम्हारी भी नारीकी जाति है। हो सके, तो तुम्हीं इस पत्रको पढ़कर दो आँसू बहा देना। कोमल हृदय होता है तुम लोगोंका। इसीलिए...बस।

तुम्हारा,
मनोहर।

आवाज़ें

—o—

तालाबके बाँधपर मैं लेटा था। मेरा सिर था पानीकी ओर। आँखें बन्द थीं। कान खुले थे। हवा बहुत ही बारीक रेशमी परोंपर उड़ रही थी। तालाबका जल सिहर उठता था। छोटी-छोटी लहरें उठती थीं। बाँधसे टकराकर खो जाती थीं। कानोंमें कल-कल ध्वनि सुनाई पड़ती थी।

रात थी। दस बज चुके थे। कृष्णपक्ष था। अँधियारा छाया हुआ था। टोकरी-भर तारे आकाशमें छितराये हुए थे, ज्यों नीले मखमलपर हीरेकी बूँदें। ठीक नाककी सीधमें सप्तर्षि जगमगा रहे थे। वशिष्ठके कन्धेसे लगी अरुन्धती संकोचसे, लज्जासे म्लान हो रही थी। इधर एक बार मृग-शिरा झलमल कर रहा था ज्यों आँसू भरी कोई बड़ी-सी आँख।

बाईं ओर कुछ दूरपर एक प्राचीन राजमहल था। अन्धकार छाया था। उसपर मानो हजारों लाखों प्रेतोंकी छायाएँ लिपटी हों उन प्रेतोंकी, जो कभी हाड़-मांसके बने मनुष्य थे। जिनके पसीनेकी कमाई इस इमारतकी नींव-में पड़ी थीं। जिनके रक्तसे इसकी ईंटें सींची गई थीं।

दाहिनी ओर एक शिवमन्दिर था, चारों ओरसे खुला हुआ। दस बजे रातको भी कोई भूला-भटका दर्शनार्थी उधर आ जाता था। घण्टा बजता था। एक कोनेमें टिमटिमाता दीया काँप उठता था। पीली-पीली रोशनीसे, पीतलका चबूतरा और पालिश किये-से काले पत्थरका दो फुट-ऊँचा शिवलिंग, चमक उठते थे।

मन्दिरके सामने कदम्बका पुराना पेड़ था। उसके नीचे कोई दस या बारह जने बैठे थे। उनमेंसे कुछ तो रमते साधु लोग थे, नंगे उघाड़े शरीरपर राख लपेटे हुए। और कुछ थे उनके भक्त लोग। बीचमें धूनी जल रही थी। दो मोटे-मोटे कुन्दे धधक रहे थे। चरसका दौर चल रहा था। प्रज्ज्वलित चिलम एक हाथसे दूसरे हाथ पहुँच रही थी। खूब जोरोंसे कश खींचे जा रहे थे। अँधियारी रातमें उससे उठती हुई लौ ऐसी लगती थी मानो दलदलमें जल उठनेवाली फासफोरसकी आलोक-जिह्वा। कोई खाँस उठता था और कोई जोरोंसे गरज उठता था—"बम शंकर, काँटा लगे न कंकर।"

मैं देख-देखकर ऊब चुका था। आँखें मूँद लीं। सोचा 'कम-से-कम काम अधिक-से-अधिक आराम, हम लोग गले फाड़-फाड़कर चिल्लाते रहते हैं। लोगोंकी नींद खराब कर रहे हैं। किसके लिये? हमारे हिन्दुस्तानमें आराम-की कौन कमी है? ये हजारों-लाखों नंगे धड़ंगे मनुष्य, शरीरमें राख चुपड़कर दुनिया भरमें मटरगश्ती करते फिरते हैं, इन्हें कौन-सा काम करना पड़ता के? इनके जीवनमें सिवाय आराम और आलस्यके है ही क्या? व्यर्थमें माथा खपाते हैं हम लोग। हमारे देशमें आरामकी कमी नहीं है।

चरसका दौर रुक गया। एक बोला—"भगतजी, अब कुछ छिड़ने दो।"

किसीने पूछा, "क्या सुनाऊँ?"

"यही कुछ भजन-वजन, भगवानका नाम, कीर्तन, कुछ भी। हम लोग भगत हैं। हमें इसके सिवाय और चाहिये क्या?"

"हाँ-हाँ, सच कहते हैं महाराज! आप ज्ञानी पुरुष हैं। भगवानको पा गये हैं। हम लोग तो हैं पापी, अधर्मी..."

"अरे-अरे, ऐसा नहीं, ऐसा नहीं। शंकरजीके दरबारमें कौन पापी? कौन पुण्यात्मा?"

"अच्छा, सुनो महाराज। टूटा-फूटा—

"जग असारमें सार रसना, हरि-हरि बोल।"

"वाह-वाह" "धन्य हो—धन्य हो" की ध्वनि उठी; और सामूहिक

कण्ठ एक साथ पुकार उठा—

"जग असारमें सार रसना, हरि-हरि बोल।"

तान उठी। कण्ठ खुले। आसमानकी नीरवता पंख खोलकर उड़ चली। चिमटे बजने लगे। करतालके स्थानपर खड़ाउओंकी खट-खटसे वातावरण फटने लगा। कीर्तनने वेग पकड़ा। स्वरोंको गति मिली। साधुओंमेंसे एक उठा और कमरपर हाथ रखकर धूनीके चारों ओर नाचने लगा। कोई बोल उठा—"वाह महाराज, कमर क्या है आपकी, साँपिन-सी बल खाती है। क्यों न हो! भक्तिका प्रताप है महाराज।"

कीर्तन सप्तम स्वरपर जाकर एकाएक टूटा और बिखर गया। एक बार फिर नीरवता उमड़ पड़ी। एक बोला, "भई, बड़ा लोच है तुम्हारे गलेमें।"

"आपकी दया है महाराज। मैं तो एक नीच सेवक हूँ।"

"सब शंकरजीकी दया है। जय हो, जय हो, बम शंकर!"

"महाराज कुछ और सुनाऊँ?"

"क्या सुनाओगे?"

"जो आप सुनें—सूरदासके पद, मीराके भजन। या कहें तो कुछ शृङ्गार-रसके गीत।"

"शृङ्गार-रस! हाँ-हाँ क्यों नहीं? वह भी तो एक रस है।"

सामूहिक आवाजने समर्थन किया। "हाँ-हाँ। होने दो, एकाध रसीली चीज।"

"महाराज कोई गज़ल सुनाऊँ? कैसा रहेगा?"

"गज़ल? किसी मुसलमानकी बनाई तो नहीं है?"

"नहीं महाराज, रामका नाम लो! मुसलमानकी गज़ल भला मैं आपको सुनाने चला?"

"अच्छा तो सुनाओ।"

किसीने गला खँखारा। तान छेड़ दी। नीरवता बेचारी फिर जान बचाकर भाग खड़ी हुई—

"सितमगरने तीर मारा तीर बे-अन्दाज था।"

"वाह-वाह" "क्या कहने हैं?" "वारी जाऊँ मैं तो।" "माशा अल्लाह।" धूनीकी आग चटखने लगी। राख-पुते चेहरे दमक उठे। आँखें जलने लगीं।

एक साधू महाराजने अपनी बगलके भक्तको खींचकर छातीसे चिपटा लिया और मुक्त कण्ठसे चिल्ला उठे—"सितमगरने तीर मारा तीर बे-अन्दाज़ था।"

हवाका एक झोंका आया, मन्दिरका दिया बुझ गया। शिवजी भक्तोंके रसीलेपनको देखकर लाजके अन्धकारमें जा छिपे। बारह बजे और कीर्तन समाप्त हो गया। किसीने अँगड़ाई ली। किसीने शंकरका नाम लिया। कोई उठ खड़ा हुआ। कोई चल दिया। मण्डली भंग हो गई और अन्तिम बार रात्रि भरके लिये नीरवताका साम्राज्य छा गया।

ठण्डे कोनेमें पड़े कुत्तेकी भाँति मैंने भी करवट ली। सोचा, घर जाऊँ। परन्तु नींद नहीं आयेगी। बारिश हो गई है तो भी क्या हुआ? घरोंमें तो कड़ी गर्मी पड़ रही है। रात-भर पंखा झलते-झलते शामत आ जायगी। नींद कहाँ? यहीं पड़ा रहता हूँ। एक घंटा। दो घंटे यहीं नींद आ गई तो और अच्छा है। वैसे, घर न जाऊँ, तो दुनियाका क्या बिगड़ा जाता है? मेरी प्रतीक्षा करनेकी किसको आवश्यकता पड़ी है?

मैं लेट गया चुप्पी साधकर। साढ़े बारह बजे, एक बजा, और फिर डेढ़का ही घंटा सुनाई दिया। निकट ही जंगलमें एक स्यार बोल उठा। कहीं दूरसे दूसरा बोला। फिर चारों ओरसे 'हुआ-हुआ' की आवाजें आने लगी। सामने सड़कपर कोई कुत्ता सोया हुआ था। वह चौंककर उठ खड़ा हुआ। जैसे भूत देख लिया हो। भूँकने लगा कुत्ता। शहरमें उसकी पुकार पहुँची। अलार्म बिगुल था, उसके साथी संगियोंने उत्तर देने शुरू किये। कोई पन्द्रह मिनटोंके लिये हुड़दंग मच गया चारों ओर, क्या जंगलमें, क्या शहरमें। फिर एक बार सन्नाटा छा गया। सामनेका कुत्ता एकाध बार गुर्राकर फिर लेट गया। नीचे तालाबमें कोई मछली सतहसे ऊपर उछली, और 'छपाक' से फिर डूब गई। कदम्बके पेड़पर कोई पंछी पंख फड़फड़ाकर सो गया।

दो बजे। मुझे नींद नहीं। कहीं पासमें ही पैरोंकी चाँप सुनाई दी। बहुत धीरेसे कहीं पायल बज उठा। कोई स्त्री थी। कोई बोला, दो जने थे। मैं जहाँ लेटा था उसके और शिवमन्दिरके बीचमें घाट था। पैरोंकी आहट सीढ़ियोंपर सुनाई दी, किसीने कहा—"बैठो।"

फिर शान्ति छा गई। थोड़ी देर बाद घाटकी ओरसे किसीके सिसकनेका स्वर सुनाई दिया। किसीने पूछा, "अरे तुम तो रो रही हो?"

सिसकनेका स्वर और भी तेज हो गया, हिचकियाँ सुनाई देने लगीं, फिर प्रश्न हुआ—"बोलो न, तुमने मुझे यहाँ क्यों बुलाया था?"

सिसकियाँ कुछ देर चलीं, फिर कोई बोली, "तुम्हें मालूम नहीं?"

"क्या?"

"ओह, कितने निष्ठुर हो तुम?" सिसकियाँ फिर जारी हो गईं।

"मैंने क्या किया, कुछ कहो भी न?"

"हाय, मैं कहाँ जाऊँ अब? दुनिया क्या कहेगी मुझसे? भैया लोगों-को कैसे मुँह दिखायेंगे? माँ कैसे जीती रहेगी? ओह..."

"मैं समझ गया... ..."

फिर सन्नाटा छा गया, रोनेवाली रोती रही। मुझे लगा मेरे चारों ओर एक तीव्र पीड़ा फैल गई है, वेदनाकी एक तेज लहर तमाम तालाबके जलमें दौड़ने लगी है, लहरोंके मिस जलके रोम-रोम काँप उठे हैं। मैं समझ न सका यह पीड़ा है कहाँपर।

"अच्छा तो सुनो।"

"हाँ।"

"एक ही उपाय है, बदनामीसे बचनेका।"

"बताओ न!"

"तुम घबराना नहीं..."

"हाँ, बताओ मुझे, कोई उपाय बताओ।"

"पैदा होते ही गला ...."

"ओह! नहीं—नहीं—नहीं!"

मैं, जो उस रात अंधकारमें छिपा हुआ दो स्त्री-पुरुषोंकी गुप्त बातें सुन रहा था, मुझे ऐसा लगा मानों मेरे हृदयके किसी अदृष्ट-पूर्व दुखते फोड़ेको जलती सींकसे बेध दिया गया हो। मैं नहीं जानता कि, मैं स्वयं चीख उठा, या कुछ और बात हुई, मैंने उसी क्षण घाट परसे दो काली-काली छायाओंको भागते देखा। कुछ देर तक पायलोंकी झनझन सुनाई दी, फिर सभी कुछ स्तब्ध हो गया।

मध्य-रात्रिके अन्धकारमें, खुली पृथ्वी और खुले आकाशके बीच, हजारों लाखों, करोड़ों ताराओंके झिलमिल प्रकाशमें मैं वहीं तालाबके बाँधपर पड़ा रहा,—संज्ञाहीन, चेतनाहीन, गतिहीन, भाग्यहीन। मेरी इन्द्रियाँ शून्य हो गईं, हृदयका स्पन्दन रुक-सा गया। देश और काल लुप्त हो गये। मुझे लगा मेरे और अतीतके बीचका महान् शून्य एकदम टकराकर राख हो गया। मुझे लगा, मैं अनादिकालसे चला आ रहा था—चला आ रहा था। अब इतनी दूर चल चुकनेके बाद मैं किसी असीम शक्तिके धक्केसे फिर वहीं पहुँच गया हूँ, जहाँसे मैं रवाना हुआ था। मुझे लगा, अन्धकारके उस ओरसे कोई मुझे हिला हिलाकर पूँछ रहा है—"मेरे बच्चोंने, मेरे मानव शिशुओंने आज तक कितनी वृद्धि की? प्रजारूपी तन्तुका कितना अधिक प्रसार किया?"—यह तो प्रजापतिके शब्द हैं! मैं काँप गया। मुझे लगा मैं अपराधी हूँ, मेरे मुँह-से बोल नहीं फूट रहा है। मेरे रोम रोम क्रोधसे काँप रहे हैं। मैं कहना चाहता हूँ— "कौन हैं तुम्हारे बच्चे? मैं? मैं तो मनुष्य हूँ। क्या तुम्हारी सन्तान मनुष्य थी? तो सुन लो। मनुष्यने तुम्हारे आदेशोंको ताकपर रख दिया है। वह साँपकी भाँति द्विजिह्व हो गया। उसकी एक जीभ है—पाप, और दूसरी है पुण्य। वह साँप हीकी भाँति प्रजा उत्पन्न करता है और उन्हें खा भी जाता है।"

टन-टन, दो बजे। मैं चौंककर उठ बैठा। स्मरण हुआ कि कल जल्दी सोकर उठना है। सुबह सात बजे एक मित्रके शिशुका नामकरण संस्कार था। और वह तो कल ढिंढोरा पीट-पीटकर चिल्लाता फिरता था—"मेरे लड़का हुआ है। लड़का हुआ है...मेरे..."

जीवन-मरण

समयके ऊपर अभी कुहरा नहीं फैल सका है। कई वर्षोंकी मंजिलें तै की जा चुकी हैं। लेकिन न कहीं धुन्ध है—न अन्धकार है—न मैल। तस्वीर बिलकुल साफ़ है। धुली-पुँछी—पालिश की हुई।

पहाड़ी प्रदेश—नदीके किनारेका छोटा-सा रेतीला मैदान। सामने कोसी नदी—हजारों बल खाती हुई बह रही है। उस पार नदीसे सटकर पहाड़की दीवार ऊँची चली गई है। बहुत ऊपर उसका नुकीला सर दिखाई देता है। रुईके फ़ाहोंकी भाँति एक-आध सफेद बादलके टुकड़े उसपर चिपके हुए हैं।

रात थी—किन्तु आकाशमें शुक्ला-त्रयादेशीका चंद्रमा था। इसलिए अँधेरा नहीं था।

रेतपर लकड़ियाँ इकट्ठी की जा रही थीं। लग-भग एक दर्जन आदमी थे। पर कोई किसीसे नहीं बोल रहा था। चाँदनीमें कोई इधर जा रहा था—कोई उधर। जैसे मशीनसे चलने-फिरने वाले लकड़ीके पुतले। गति है—किन्तु प्राण नहीं—ध्वनि भी नहीं।

एक ओर मैं स्वप्नाभिभूतिकी भाँति खड़ा था। मेरे पैरोंके पास एक अर्थी रक्खी हुई थी। सफ़ेद वस्त्र उसपर फैला दिया गया था। एक छोर खुला था। चंद्रमाकी रोशनीमें एकटक दृष्टिसे खुले मुखको देख रहा था—दस वर्ष-का सुन्दर बालक। मृत्युने उसकी नन्हीं-नन्हीं पलकें सदाके लिए बन्द कर दी थीं। भूरे रंगके रेशमी बाल इधर उधर बिखर रहे थे। कभी कभी कोसीके वक्षसे उठे निःश्वासका झोंका उन अलकोंको हिला देता था। जैसे उनमें

जीवन हो। अभागी आशा! किंतु वह तो मर चुका था। मुर्दा भी कहीं जी सकता है?

दस वर्षका सुकुमार बालक। मेरा भाई था। बस तीन दिन बुखार आया था।

मैं रोया नहीं। उसे शहरसे पाँच मील नीचे, अपने कन्धोंपर उठाकर हम लोग श्मशान तक ले आये—घंटे भरसे कममें सूखी लकड़ियोंकी आगपर हमने उसका कोमल शरीर जलाकर राख कर दिया।

वे अँगारे! वह राख! हमने उसे भी उठा उठाकर दौड़ती हुई लहरों-पर डाल दिया। मैं फिर भी नहीं रोया।

लौटकर मैं सीधे अपने कमरेमें आकर लेट गया। किसीको मुँह दिखाने-की इच्छा न थी। खिड़कियाँ बन्द कर दीं। रोशनी गुल कर दी।

भीतर रोना-धोना मचा था। जो मर गया था उसकी माँ छाती पीट पीट कर प्राण दे देना चाहती थी। किन्तु दिवंगतको अब जननीकी स्मृति कहाँ! उसकी भाभी अपने मृत देवरको पुकार रही थी।

मेरी तबीयत हुई जाकर सबका सिर तोड़ दूँ। मूर्ख कहींकी। चिल्ला चिल्लाकर आस्मान चीरे दे रही हैं। अरे मैं तो अपने हाथों उसे आग दे आया हूँ। मेरी आँखोंमें आँसू नहीं। हृदय शांत, शरीर विश्रान्त, जैसे कुछ हुआ ही न हो। मेरे दिल नहीं है? मुझे ममता नहीं है? मैं क्या आदमी नहीं हूँ?

जो लोग मेरे साथ मुर्दा फूँकने गये थे, सबके सब बगलके कमरेमें बैठे पिताजीको सान्त्वना दे रहे थे। जिसका बेटा मर गया था उसे ये ज्ञानी लोग कहते थे—शोक मत करो। जी पत्थरका बना लो! एक महाशय जी कह रहे थे—"देखिये शास्त्रीजी, अब रंज करनेसे क्या फ़ायदा? आप तो विद्वान् हैं। जिन्दगी मौत तो अवश्यंभावी है। देखिये किसीने क्या अच्छा कहा है—

"ज़िन्दगी क्या है? अनासिरमें ज़हूरे हस्ती।
मौत क्या है? इन्हीं अज़्ज़ाका परेशां होना।"

मैंने भी यह शेर कहीं सुना था। याद नहीं आता किसका बनाया हुआ है। खैर। ऐसे शेर, दोहे, कवित्त या श्लोक समयपर बड़े काम आते हैं। अपने आपको धोखा दे लेना भी तो एक खासी कला है। असली भावनाओं-को दबाकर रटे रटाये वाक्य दूसरेको कह सुनाना! क्या सुन्दर अभिनय है!

वाह, वाह ! मनुष्य पशुसे मनुष्य तभी बना, जब उसने अभिनय करना सीखा !

मैंने देखा है—एक भले आदमीकी सालगिरहके दिन कवि-सम्मेलन हुआ। शेर उनका लिखा तो था नहीं, फिर भी "वाह-वाह" "माशा-अल्लाह" के नारे लग गये !

एक पागल कुत्तेको, मेरी आँखोंके सामने, म्युनिसिपैलिटीके भंगीने गोली मार दी। क्षणभर पूर्व जीवित प्राणी निर्जीव हो गया। बगलमें बैठे मेरे मित्र महाशय चटसे यही शेर बोल उठे।

एक मजदूरने अपनी गर्भवती स्त्रीको लात मार दी। मर गई बेचारी ! ऑपरेशन हुआ, बच्चा जीवित निकल आया। एक कविने सुना, तो कहा—"जीवनकी पूर्णता मृत्युमें है। और मृत्युमें जीवनका बीज है।" उसीके साथ यही शेर उन्होंने भी कह सुनाया !

मैंने स्कूलके रेखागणितमें पढ़ा था—"'अ' बराबर 'ब' के—और 'ब' बराबर 'स' के। इसलिए 'अ' बराबर 'स' के हो गया।" 'जीवन' 'मृत्यु' से पूरा हुआ; और 'मृत्यु' पूरी हुई 'जीवन' से। "पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण-मुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते"। अतएव जीवन क्या है ? मृत्यु क्या है ? सब गड़बड़ है। पागलपन है !

मैं अंधेरे कमरेमें चारपाईपर चित लेटा था। पिताजीके कमरेसे इस शेरको सुनकर मुझे कुछ अजीब सा लगा—ऐसा लगा मानो मेरा दिल फटा जाता है। एक काली हँसी मेरी छाती चीर कर कमरेमें भर जाना चाहती थी। मैं हँसना चाहता था, खूब जी भरकर हँसना चाहता था, क्रूर अट्ट-हास ! जो मेरी छातीको चीर दे ! कमरेकी दीवारोंको पीस डाले ! इन रोने चिल्लाने वालियों पर बिजली बन कर गिर पड़े। इन ज्ञानके खसटोंको उठाकर आस्मानमें फेंक दे !

मुझे उस रात हँसी नहीं आई। दिन बीते। महीने बीत गये। अब तो कई साल बीत चले हैं।

लोगोंके चेहरोंपर मैंने गुलाबी मुसकान खिली देखी है। तरुणियोंके मुँहसे जुहीके फूल झरते देखे हैं। छोटे छोटे बच्चोंको दो दो दँतुलियाँ

निकाल कर किलकारी मारते देखा है। कमी नहीं है हमारी इस दुनियामें हँसीकी।

किन्तु मेरे लिए हँसी खो गई है। मैं हँसता अवश्य हूँ—झूठ नहीं बोलूँगा। बत्तीसी निकाल कर हँसता हूँ। सिनेमाके खल नायकोंका-सा अट्टहास भी हँस लेता हूँ। पर रस नहीं रह गया है। गुदगुदी नहीं है, रास है,-- कूड़ा है—'मुस्ते-गुबार' है।

(२)

हाँ, एक बार हँसा हूँ मैं। एक डिस्ट्रिक जेलके बैरककी पूरी लम्बाई मेरी हँसीसे गूँज उठी थी।

मैंने क्या अपराध किया था—किससे पूछूँ? अपराधी किसी भी समय यह नहीं सोचता कि उसने अपराध किया है। सजा मुझे हो गई थी—मैंने सर-आँखों स्वीकार भी कर ली थी।

हमारी बैरक साढ़े पाँच बजे सुबह खुला करती थी। मैं कोई नौ बजे तक सोता रहता था।

एक दिन चार बजे ही मेरी आँख खुल गई। कहीं हम्ला हो रहा था। कोई ज़ोरसे कड़ककर बोला—

"चुपचाप चल बे! वरना चमड़ी उधेड़ दूँगा!"

फिर किसी दूसरे व्यक्तिके रोने और गिड़गिड़ानेका स्वर सुनाई दिया।

वह कह रहा था—"अबकी छोड़ दो...सरकार!...मेरा गुनाह माफ़ कर दो...मेरे बच्चे हैं...मुझे छोड़..."

फिर एक तीखा-सा स्वर सुनाई दिया—"ऐसे नहीं मानेगा—उठा कर ले चलो।'

रोनेवाला ज़ोर ज़ोरसे गिड़गिड़ाने लगा। धीरे धीरे आवाज दूर होती चली गई। वे लोग चले गये थे।

बैरकमें कोई भी नहीं जग रहा था। सीमेंटकी बनी पटियापर मैंने करवट ली। सोचने लगा—यह आदमी कौन था? उसने क्या गुनाह किया था? उसे पकड़ कर कहाँ लिये जा रहे थे?—कौन जवाब देता? कौन बताता?

साढ़े पाँच बजे। बैरक खुली। वार्डरके अन्दर आते ही मैंने पूछा।

उसने कहा,—'कुत्ता तनहाई' में एक क़ैदी बन्द था। खूनका मुकद्दमा चल रहा था उसपर। आज उसे फाँसी हो गई। उसे ही लिये जा रहे थे इधरसे।

वार्डर चला गया। जाने कहाँसे मेरी आँखोंके सामने एक चित्र खिंच गया—

"एक विवश मानवको लोग पकड़े लिये जा रहे हैं। सामने लकड़ीके चौखटे परसे रेशमकी काली डोर लटक रही है। उसे एक तिपाईपर खड़ा किया जाता है। वह रोता है—गिड़गिड़ाता है, हाथ पैर पटकता है। सब व्यर्थ। उसके गलेमें फन्दा डाल दिया जाता है। एक—दो—तीन! खट्से आवाज होती है। तड़पता, ऐंठता हुआ एक मनुष्य-शरीर झूल जाता है रस्सीपर!

दूर, कहीं दूर, एक गाँवमें बहुत सवेरे एक झोपड़ीमें दो चार बच्चे जग उठते हैं। माँसे पूछते हैं—"बाबा कहाँ हैं?" जवाबमें नारी चुप-चाप रो देती है।"

उसी दोपहरको हम चार जने बैरकमें बैठे 'ब्रज' खेल रहे थे। मैंने अपने 'पार्टनर' से कहा—"आज एकको फाँसी हो गई है। सुबह उसे उसी बैरकके पाससे लिये जा रहे थे..."

पार्टनर बोला—"अरे गोली भी मारो यार! यह तो यहाँकी रोजकी लीला है। वैसे पूछो तो, मरना-जीना है कौन-सी बड़ी बात? किसीने कहा तो है—"जिन्दगी क्या है? अनासिरमें..."

मैंने ताश पटक दिये। मेरा शरीर काँपने लगा। मैं हँसा। अट्टहास कर उठा मैं।

वे सभी आँखें फाड़-फाड़कर मेरी ओर देखने लगे। मैं कोई पाँच मिनट हँसता रहा। मारे हँसीके मेरी आँखें बहने लगीं।

तब मैंने 'पार्टनर' से पूछा—"क्यों साहब, आप हैं तो ग्रेज्युएट—र रईस भी हैं आप। घरमें लाइब्रेरी है आपके?"

"है, है क्यों नहीं? कोई साढ़े तीन हजार पुस्तकें हैं मेरे पास।"—वे बोले।

"उसमें कोई "जीवन" नामकी भी किताब है?" मैंने पूछा।

'जीवन' नामकी?—वे हैं किस 'आथर' की लिखी?"

"लिखी ? लिखी किसीकी नहीं है। आपके पास है या नहीं—मैं तो यह पूछता हूँ।"

"...तो मेरा खयाल है—यह किताब मेरी लायब्रेरीमें नहीं है।"

"तभी तो—तभी तो..." मैंने कहा, और मैं खूब हँसा, खूब हँसा···।

वे सबके सब मेरी ओर अकचका कर देखते रह गये। सोचते होंगे—यह पागल तो नहीं हो गया है—

किन्तु, पागल मैं था—या वे, कह नहीं सकता :

तमसो मा ज्योतिर्गमय

—:※:—

सभ्यताके अन्धकारमें टटोलता हुआ मैं मार्ग खोज रहा था। मुझे विश्वास था अपने आपपर—और—गर्व था अपने ज्ञानपर।

तभी, एक दिन, एक भिखमंगा मेरा दरवाजा खटखटाकर बोला—"मैं भूखा हूँ,—मुझे खाना दो।"

मैंने उसे देखा, मेरी रूह काँप गई।

नंगे पैर, नंगे सिर, आपादमस्तक धूलमें सना हुआ, सूखी हड्डियोंका ढाँचा, अठारह उन्नीस वर्षका वह भिखमंगा।

भीतर धँसी हुई अपनी दोनों आँखें मेरी आँखोंमें डालकर उसने रोटियों-का सवाल पेश किया। कुल दो रोटियोंका।

उसकी आवाजमें जरा भी कम्पन न था, एक प्रकारके विश्वासकी—अधिकारकी-सी ध्वनि उसमें थी। मैं यह नहीं समझ पाया कि किस हकसे और बग़ैर किसी पशोपेशके वह जो कुछ मेरे पास है उसका अपने आपको भी एक हिस्सेदार समझ सकता है।

किन्तु मोटी जिल्दोंवाला मेरा किताबी ज्ञान उसकी यह स्पर्द्धा न सह सका। अठारह वर्षका नौजवान और भीख माँगे। यह भला मैं कैसे सहन कर सकता था? मैं अपने देशकी नई संतानको भीख देकर कुमार्गपर कैसे चलने दे सकता था? भिक्षावृत्ति क्या आदमीको अकर्मण्य नहीं बना देती? जब वह मजदूरी कर सकता है...

मैंने कड़ककर कहा—"जाओ, भीख नहीं मिल सकती तुम्हें। मजदूरी करो। जो कुछ मिलता है, अपनी कमाईका खाओ। इस तरह भीख माँगकर अपना जीवन तो बरबाद कर ही रहे हो, साथ ही अपने देशको भी अवनतिकी ओर ले जाना चाहते हो—"

"मजदूरी कहाँ रक्खी है, बाबू ! मिलती तो फिर रोना ही किस बातका था—?"

मुझे जैसे किसीने जोरसे चपत मार दी हो। कम्बख्तने मेरे तात्पर्यको समझा ही नहीं। उलटे वह मुझसे प्रश्न करने लगा, मजदूरी कहाँ रक्खी है ? उस भिखमंगेने—उस वक्तके छोकरेने—मेरे सामने एक ऐसी समस्या पेश कर दी, जिसे सुलझानेमें तमाम दुनियाके, और नहीं तो कमसे कम इस अभागे देशके अर्थशास्त्रियोंके दाँत खट्टे हो गये हैं। मजदूरी इस तरह चलते फिरते या पेड़ोंसे अथवा आस्मानसे टूटकर गिरती हुई मिल जाती तो ये लोग भीख माँगते ही क्यों ?

लेकिन मैं तो चुपचाप अपनी हार स्वीकार नहीं कर सकता था।

"कुछ भी हो—" मैंने कहा, "मैंने तुम्हारे पेट भरनेका ठेका तो ले नहीं रक्खा। मैं भीख नहीं दूँगा, भले ही तुम भूखों मर जाओ। कोई दूसरा घर देखो। जो बात मेरे उसूलके खिलाफ है वह मैं नहीं कर सकता।"

वह जैसे आया था वैसे ही चला गया। इतनी तीखी भर्त्सनाके बावजूद उसके चेहरेपर एक भी शिकन नहीं पड़ी।

अन्दर आया तो एक नये मोर्चेका सामना करना पड़ा। वे कुछ दकियानूस टाइपकी हैं। बोलीं—"कुछ दे ही देते, बेचारा जरा सा लड़का ! अभी से उसे भूखका सामना करना पड़ रहा है !"

ना बाबा ! इन औरतोंसे दलील करनेकी मुझमें हिम्मत नहीं। मैंने लाख समझाया कि समाजके भलेके लिये यह जरूरी है कि भिखमंगोंको परिश्रम करके पेट भरना सिखाया जाय। लेकिन मेरी सुनता कौन ?

कहने लगीं, "चूल्हेमें जाय तुम्हारा समाज ! बड़े बनते हो समाज सेवक ! तुम्हारा समाज आखिर है क्या ? इन्हीं अध खाये, अध नंगे, भूखे प्यासे इन्सानोंका एक गिरोह ! राम-राम, ठीक मेरे भाईकी तरह दिखाई देता था। वह भी बेकार है। कहीं वह भी भूखों मर रहा होगा !"

मैं तो चुपचाप आँखें मूँदकर लेट गया । अन्दरसे ग्लानिका तूफान-सा उठ रहा था। वे कुछ देर बड़बड़ाकर चुप हो रहीं। रात हो आई थी। मैं चादरके अन्दर मुँह छिपाकर सो रहा।

भोजन करनेके लिये पुकार हुई। लेकिन मारे ग्लानिके खानेकी तबीयत ही नहीं हुई। मैं लेटा रहा और शायद वैसे ही सो गया।

* * *

लाइब्रेरीके बाहर कुर्सीपर अकेला बैठा हुआ था। साँझ उतर रही थी। प्रकाश मुरझा रहा था। एक व्यक्ति आकर चुपचाप पासकी दूसरी कुर्सीपर बैठ गया। मुड़कर देखा, मेरे आफिसका ही एक कर्मचारी था।

पहले मेरी ओर फिर सामने शून्यकी ओर देखते हुए, बगैर मेरे पूछे, और बिना किसी प्रकारकी भूमिकाके उसने कहा, "भाई, माफ करना। मैं एक बुरी खबर सुनाने आया हूँ। सुना है तुम नौकरीसे अलग कर दिये गये हो!"

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया, चुप बैठा रहा। कहता ही क्या? एकाएक किसी तेज धारवाले शस्त्रसे यदि शरीरका कोई अंग कट जाय तो उसी समय पीड़ाका अनुभव नहीं होता। वह तो बादमें मालूम होता है जब सारे शरीरमें सुइयाँ-सी चुभने लगती हैं, जब उस अंगके न होनेका यथार्थ ज्ञान होता है।

पता नहीं कब और किस तरह मैं घर पहुँच गया। देखा अँधेरा-सा छाया हुआ है। एक कोनेमें मिट्टीका छोटा-सा दीया टिमटिमा रहा था। उसकी पीली रोशनीके घेरेके अन्दर कोई मूर्ति सिकुड़ कर बैठी हुई थी।

निकट आकर देखा तो मेरा खून सूख गया। आज ही आजमें यह कैसा परिवर्तन?

उनका चेहरा पीला पड़ गया। बड़ी बड़ी कजरारी आँखें अन्दर धँस गई थीं, होठोंपर सूखी पपड़ियाँ पड़ी थीं। मूक, ठंढे पत्थरकी प्रतिमाकी भांति अचल। "क्यों, क्या हुआ? ऐसे क्यों बैठी हो?" मैंने उनका कन्धा हिलाकर पूछा।

कोई उत्तर नहीं, सिर्फ उनके दोनों नेत्र मेरी आँखोंसे जा मिले।

मैंने फिर पूछा—"बताओ न, क्या हुआ ?"

मुझे मेरा अपना कंठस्वर अपरिचित-सा जान पड़ा, जैसे मेरे अन्दरसे कोई दमघुटी आवाज़से बोल रहा हो।

तब वे बोलीं—"मैं भूखी हूँ ! आज कई दिनसे अन्नका दाना तक नहीं मिला !"

उसी समय दीया बुझ गया।

अन्धकारमें मुझे उसी भिखमंगेका स्वर सुनाई दिया—"मज़दूरी कहाँ रक्खी है, बाबू ?"

और मुझे एकाएक याद आया कि मेरी नौकरी छुट गई है।

"मैं भूखी हूँ"—निकट ही मानो मेरे प्राण खींचते हुए वे बोलीं।

"मैं भूखा हूँ !"—अँधेरेके पीछेसे भिखमंगेका स्वर कमरेमें गूँज उठा।

"हम भूखे हैं !!"—मानो अगणित कंठ एक साथ पुकार उठे।

मेरा सिर घूमने लगा, चारों ओरका अन्धकार मानों मूर्तिमती भूख बनकर मुझे ही खा जाना चाहता था। भूख-भूख ! दाएँ-बाएँ, ऊपर-नीचे भूख ! ओ ! भूख !

मुझे लगा मेरे अन्दरसे एक प्रबल ध्वनि कलेजा चीरकर बाहर निकलना चाहती है, और अचानक गला फाड़कर मैं भी चीख उठा—

"मैं भी भूखा हूँ... ओ ! मैं भी...!"

* * *

किसीने मेरा कंधा पकड़कर जोरसे हिलाया, मैं चौंककर उठ बैठा। पूरबकी खिड़कीसे प्रकाशकी प्रथम किरणें मुट्ठी भर भरकर सोना बिखेर रही थीं, और मुझपर भी बरस रहा था—दो बड़ी बड़ी चिन्तित आँखोंका प्यार।

मैं हड़बड़ाकर उठ खड़ा हुआ। सारा शरीर पसीनेसे तर हो गया था। वे पास ही बैठकर पंखा झलने लगीं, पूछा—"क्या हो गया था ? नींदमें ऐसे क्यों चिल्ला उठे थे ?"

मैंने कोई उत्तर न दिया। चुपचाप उठकर खिड़कीके सामने जाकर बैठ गया। सूरजने अपनी सारी रोशनी मेरे शरीरपर उँड़ेल दी, फिर न जाने क्यों और कैसे, अपनी ही आदतके खिलाफ मैं गुनगुनाने लगा—

ॐ तमसो मा ज्योतिर्गमय—
मृत्योर्मा अमृतं गमय—

उस दिनसे पलकें बिछाकर मैं उस भिखमंगेकी राह देखा करता हूँ। वह कब आयेगा ?

अवांछनीया

कहनेको तो प्रकाश संसारके कई देशोंमें विचरण कर आया है। किन्तु उसे देखकर कोई भी नहीं समझ पाता कि दूसरे देशोंकी छाप उसपर पड़ी है या नहीं। दूसरे देशोंको नजदीकसे देखने और उनकी सभ्यताओंका अध्ययन करनेसे जो परिवर्तन उसमें हुआ वह इतना ही कि अपने देश और उसके निवासियोंपर उसकी ममता अत्यधिक बढ़ गई है। यह परिवर्तन ऐसा है जैसा कि बहुधा नहीं हुआ करता। क्योंकि भारतसे योरोप जाकर लौटनेवालों-में जितने व्यक्ति भारतीय बने रहते हैं उनकी संख्या बड़ी सरलतासे अँगुलियोंपर ही गिनी जा सकती है।

प्रकाशके स्वभावमें एक और भी परिवर्तन हुआ। वह यह कि, यदि कोई उसके देशकी सभ्यताको योरोपीय सभ्यतासे निम्नतर कहता है, तो एकाएक उसका हृदय दुख उठता है। उसे यह भावना असह्य लगती है। वह युक्तियों और अकाट्य तर्कद्वारा इसका खण्डन करता है। अभी, उसी दिनकी बात है। मैं और प्रकाश शहरसे बाहर टहलने गये हुए थे। अचानक मैंने पूछा—

"क्यों भई, भारतीय स्त्रियोंकी तुलनामें योरोपीय स्त्रियोंमें स्वाभिमानकी भावना अधिक स्पष्ट है न?"

"नहीं।"

उसकी एकमात्र 'नहीं' से मैं असन्तुष्ट हो उठा। मैंने कहा—'नहीं कैसे? भारतीय स्त्रियोंको देखते ही हो..."

"हाँ-हाँ, देखता क्यों नहीं हूँ? परन्तु स्वाभिमान देखनेकी चीज नहीं

है। वह एक अनुभूति है। योरोपकी स्त्रियोंमें जो स्वाभिमानकी भावना है वैसी ही हमारी महिलाओंमें भी है। अन्तर यही है कि योरोपमें यह भावना Extensi e (विस्तृत) होकर उच्छृंखल हो गई है। हमारे यहाँ सीमाओंमें रहकर उसका Intensie (तीव्र और अन्तर्मुख) रूप दिखाई देता है। मर्यादा हमारे देशकी सभ्यता जो है!"

मैं चुप रहा। वह बोला—"अच्छा मैं एक जीवित उदाहरण देता हूँ। वह देखो। उस बुढ़ियाको जानते हो?"

मैंने देखा, एक महुएके वृक्षके नीचे कोई बुढ़िया भैंसे चरा रही थी। मैंने पूछा,—"कौन है वह?"

"यहाँ जो एक परीछित है न? दूध बेचनेवाला? यह उसीकी बुआ है।"

"तो इससे और तुम्हारे तर्कसे क्या सम्बन्ध है?"

अब प्रकाश एक लम्बी-ठंडी-सी साँस लेकर बोला,—ओफ्, इस बुढ़िया-की भी एक कहानी है—"

"सो तो है ही, कहानी किस व्यक्तिकी नहीं होती?"

"नहीं यह बात नहीं है।" वह गम्भीर होकर बोला—"सबके जीवनमें कहानी नहीं हुआ करती। 'कहानी', इस शब्दसे जो अभिव्यक्ति होती है, उसका अर्थ है कुछ असाधारण, असामान्य वस्तु। कुछ ऐसा सत्य जो प्रत्येकके जीवनमें नहीं मिला करता। कहानी विशिष्टता लिये हुए सामान्य जीवनका ब्यौरा है..."

"ख़ैर कुछ भी हो, मैंने तुमसे साहित्यके कोने-कंगूरे दिखानेको नहीं कह रहा। तुम तो उस बुढ़ियाकी बात कह रहे थे..."

"हाँ, जब यह जवान थी, सोलह वर्षकी, तब रंगमें अत्यन्त काली थी।"

"वह तो मैं सामने ही देख रहा हूँ।"

"नहीं, आज तो इसके कालेपनपर राख बिछी हुई है। आज उसके शरीरपर मुर्दनी छा गई है। तब यह बात न थी। तब रंगमें चमक थी। अंग अंग पुष्टि थे इसके। यौवन खिला था इसका, जैसा काला धतूरा!"

"मुझे हँसी आ गई उसके वर्णनपर। मैंने कहा—"वाह क्या कहने

हैं कवि-सम्राट्! तुमपर कालिदास भी निसार हो जाय।"

"चुप रहो जी, बीचमें मत बोलो!"

मैं चुप हो रहा।

"एक दिन इसकी शादी हो गई और यह अपने पतिके घर चली गई। लोगोंने मारे आश्चर्यके चार दिन तक खाना-पीना छोड़ दिया। यह अनुमान लगाया जाने लगा कि अब सूर्य पूर्वके बजाय पश्चिमसे निकलने लगा।"

"क्यों?"

"इसलिए कि इतनी बदसूरत लड़कीका विवाह भी किसी मनुष्यसे होगा—इसकी सम्भावना किसे थी?"

"मनुष्य की लड़कीका विवाह अगर मनुष्यसे न होगा तो किससे होगा—खरगोशसे?" मैंने पूछा।

"अरे, बाबा, खरगोश तो आखिर प्राणी है। परन्तु हमारे यहाँ घड़ेसे लड़की ब्याह देते हैं! जनाब, अभी आप जानते क्या हैं। दक्षिणकी देव-दासियाँ सुनी हैं?"

"अच्छा तो फिर क्या हुआ; इसकी शादी हो गई, तब?"

"शादी होनेके एक ही महीने बाद यह चली आई अपने मायके। कहने लगी, आज भले ही मर जाऊँ, पर ससुराल नहीं जाऊँगी।"

इतना कहकर प्रकाश फिर चुप हो गया। वह शायद देखना चाहता था कि मुझमें उत्सुकता जागी या नहीं। पहिले नम्बरका गप्पी है प्रकाश!

बोला, "मेरे मित्र, यह तो तुम मानते ही हो कि जब जगतके स्रष्टाने जान बूझकर दो रंग बनाये—काला और गोरा—तो उनके स्वभाव भी अलग अलग बना दिये। गोरे रंग वालोंका संसारमें प्रभुत्व होना था। इस-लिये वे स्वभावसे भी उग्र, घमण्डी और असहनशील होते हैं और कलमुँहे लोगोंको भगवानने नम्रता, गुलामी, गधेकी-सी सहनशीलता और दब्बूपन आदि गुण प्रदान किये हैं। यह जो परीक्षितकी बुआ है, यह स्वभावमें वैसी ही है जैसे गुलाम हुआ करते हैं,—एक तो नारी तिसपर कलमुँही!—बूढ़ा ब्रह्मा बड़ा चालाक है दोस्त!"

"क्यों?"—मैंने पूछा।

"भई, संसारमें जब उसने वर्ग-वैषम्य उत्पन्न किया तो उसीके साथ स्वभावमें साम्य नहीं आने दिया। नहीं तो परमात्माकी तमाम सृष्टि खंडहर बन गई होती, खण्डहर। ऐसी टकराहट पैदा होती कि प्रलय हो जाता दूसरे ही दिन।

"यह तो भई, तुमने पतेकी बात कही—"

"हाँ, तो मैं कह रहा था—क्या कह रहा था?—हाँ, इस औरतको भी परमेश्वरने उसी पुराने ढर्रेपर बनाया था। लेकिन एक भूल उसने कर दी। ....इसको जो हृदय मिला वह ठीक वैसा ही था जैसा नारीमात्रका होता है। व्लाडीवीस्टकसे केप आव् गुड होप और वहाँसे पनामा नहर तक जितनी स्त्रियाँ हैं, बस उन्हींका-सहृदय इसे भी मिला है। बड़ी ही भद्दी भूल की ईश्वरने यहाँपर।"

"तो तुम्हारी रायमें कैसा हृदय इसे मिलना था?"

"तेलिया पत्थरका बना हुआ! जिसपर एकआध बार लुहारी घन भी उचट कर लौट जाय। परन्तु इसे मिला है औसत नारी-हृदय, रिस्टवाचकी कमानी-सा, फ्रेमपर जरा-सा स्पर्श करते ही जिसका स्पन्दन दस गुना बढ़ जाता है!"

अब तो मैं परेशान हो चला था। मैंने चिहुँककर प्रकाशसे कहा—"भई, तुम पूरे सनकी जान पड़ते हो, तुम्हें बातचीत करनेकी कला नहीं आती।"

वह हक्का-बक्का-सा मेरी ओर देखने लगा। मैंने फिर कहा—"तुम कहने चले थे परीछितकी बुआकी बात और लगे अपना दर्शन अलापने। उसका हृदय ऐसा है वैसा है, व्यर्थकी चीजें हैं ये! शरीर विज्ञानमें आते हैं हृदय और गुर्दे-के विवरण। तुम्हें एक व्यक्तिकी कहानी कहनी है—सो जैसे कहानी कही जाती है वैसे कहो।"

वह कहने लगा—"अच्छा तो सुनो कहानी। तुम भी कहोगे एक मोपासा-से पाला पड़ा है आज। जनाब, यह बुढ़िया एक ऐसा टाइप है, यदि यह कहीं मैक्सिम गोर्कीको मिल गई होती, वह तो अमर हो ही गया है, परन्तु इसकी कहानी भी अमर हो जाती। अच्छा तो सुनो—विवाह इसका हुआ तो यही भावना रात दिन इसे पीड़ित किया करती थी कि यह कुरूप है। पुरुषको

आकर्षित करनेके लिए सबसे पहले गोरी चमड़ी चाहिये। पढ़ी-लिखी यह खाक भी नहीं। इन दो आकर्षणोंमेंसे इसके पास एक भी नहीं था। थी एक ही वस्तु। उसीकी एक मात्र भेंट लेकर यह नारी पुरुषके सान्निध्यमें गई उसका वरण करने। उसे अपना पति जीवन-सर्वस्व बनाने, पुरुषने भेंट स्वीकार कर ली। परन्तु अभागिनी पत्नी अपने पतिकी प्रिया नहीं बन सकी, क्योंकि वह कुरूप थी। इसका पति इससे कन्नियाँ काटने लगा। यह उसके निकट जाना चाहती थी परन्तु यह जान गई थी कि रूपके लोभीको यों आकर्षित करना कठिन है। एक दिनयह बन ठन कर वहाँ पहुँची जहाँ इसका मालिक रँहट चला रहा था। इसे बातें करनेका भी तो तमीज नहीं है। जाते ही बोली—'लो आज मैं तुमसे साफ साफ जवाब चाहती हूँ।' वह बोला—'कैसा जवाब?' यही कि तुम मुझसे यों भागते क्यों फिरते हो?'

वह कुछ देर इसके फटे गालों और तेलसे पुते चेहरेको देखता रहा, फिर बुरी तरह मुँह बिचकाकर बोला—'अपनी सूरत तो देखो पहले, फिर मुझसे जवाब पूछना!'

"बस इतना पर्याप्त था। मैंने कहा था न, कि इसका हृदय एक औसत नारी-हृदय है। इसके स्वभिमानको ऐसा धक्का लगा कि यह उसी दिन शरीरमें एकमात्र कपड़ा पहिनकर रातों रात अपने मायके चली आई और तबसे आज तक ससुराल नहीं गई।"

प्रकाशकी कहानी शायद समाप्त हो गई थी। मैंने पूछा—"बस यही है इसकी कहानी?"

वह आँखें फाड़कर कहने लगा—"तुम यह साधारण कहानी समझते हो? जरा उसके स्थान पर खड़े होकर विचार तो करो। एक युवती स्त्री, नदी-की उत्ताल लहरों-सी हजारों उमंगे लिये पतिके घर जाती है। वहाँ उसे मिलती है कटु उपेक्षा। उसका सर्वस्व छीन लिया जाता है और फिर दूधकी मक्खी-की तरह उसे निकाल बाहर फेंक दिया जाता है। वह भी तो आखिर मानव है न? स्त्री हुई तो क्या हुआ? उसके भी स्वाभिमान है, मानापमानकी अनुभूति उसे भी तो है?"

मैंने कुछ विचार करते हुए कहा—"लेकिन सीता-सावित्रीका आदर्श ?"

"वह तो पुरुषोंकी बनाई कसौटी है। गुलामकी कसौटी होती है। उसके सामने कुछ पैसे फेंक दिये जाते हैं। यदि वह उठा कर छिपा ले तो बेईमान और यदि लाकर मालिकको अर्पित कर दे तो ईमानदार कहलाता है। सीता-सावित्रीका आदर्श पुरुषोंकी अपने स्वार्थोंकी सृष्टि है। इससे अधिक कुछ नहीं। तुम इस बुढ़ियाके त्यागका अनुभव तब कर सकते हो जब तुम सिद्धार्थके महाभिनिष्क्रमणका अर्थ समझ सको! ..... उस दिन जो अपने पतिके तिरस्कारपर रूठ कर चली आई थी वह साधारण स्त्री नहीं थी। उस एक क्षणके लिये इस कुरूप, तिरस्कृत, अपमानित नारीमें ऐसी शक्ति आगई थी ..... काश, कि इस औरतको इसके देवताओंने वाणी दी होती! दोस्त, उस एक ही क्षणमें यह सारे नारी-संसारमें क्रांति उत्पन्न कर देती—क्रांति। संसार भरकी पुरुष जातिको अपने युग-युगके अत्याचारोंका एक ही दिनमें प्रायश्चित्त करना पड़ता। इसके पतिका अपराध शिशुपालका-सा अन्तिम अपराध होता!"

मुझे बड़े जोरोंकी हँसी आगई। प्रकाशने मेरी ओर देखा और उसका मुँह तमतमा गया। मैंने उसकी पीठपर हाथ फेरकर कहा—"बहुत ही भावुक हो, प्रकाश! अत्यधिक भावुकता भी अच्छी नहीं होती। सभी बातों-को निरपेक्ष दृष्टिसे देखना अच्छा है। यों भभक उठना अस्वास्थ्यका लक्षण है—शक्तिका नहीं।"

वह बहुत देर तक मौन रहा, फिर हँसकर कहने लगा—"अरे अभी तो कहानी ही पूरी नहीं हो पाई। उसके बाद तो इसके पतिने दूसरा विवाह किया। पर वह जीवित नहीं रह सकी। बेचारेको धक्का अवश्य लगा होगा। कुछ वर्षों बाद सुना उसकी आँखें फूट गईं। इसने सुना तो यह रोने लगी। परम्पराओंके संस्कारोंने जोर मारा। इच्छा हुई, जाऊँ पतिकी सेवा करूँ, किन्तु नारीत्व इसका नमनेवाली धातुसे नहीं बना था। एक दिन अंधा आया इसके द्वारपर। इसने दरवाजा बंद कर लिया। वह हजार कहता रहा, गिड़-गिड़ाता रहा—'चलो लक्ष्मी, रूठो मत, मेरे अपराध क्षमा करो, मुझे काफी दंड मिल चुका है। मेरे घरमें अँधियारा छा गया है। घरकी लक्ष्मी तो तुम

हो, जो रूठ गई हो। चलो न, मैं मनाने आया हूँ तुम्हें ...'

"जरा कल्पना करो उस एक क्षणकी। इस अवांछनीया, तिरस्कृता नारीको ऐसा वरदान मिल रहा था जो पार्वतीको वर्षों तपस्या करने पर मिला था!...

"...सिद्धार्थको कौनसी कमी थी जो वे घर छोड़ कर जंगलको भागे थे? संसारके समग्र सुख, आनन्द, वैभव, विलास पलकें बिछा कर उनका स्वागत करनेको उद्यत थे। क्यों न लौट चले वे? उन्हें क्यों पीड़ा हुई थी उस एक तीरसे जो हंसके शरीरमें लगा था—देवदत्तके तूणीरसे निकला हुआ तीर...?

"...खैर, जाने दो सिद्धार्थकी बातें। कहाँ वह महामानव और कहाँ यह परीछितकी बुआ! एक अत्यन्त सामान्य नारी। इसके लिये उतना ही पर्याप्त था। दर्पोन्मत्त पुरुष उसके चरणों तले बैठा भीख माँग रहा था। 'चलो लक्ष्मी, मुझे क्षमा करो'..... क्यों न चली गई यह उसी समय? यह कौन कोई शाहजादी थी? कौन उसे उर्वशीका-सा रूप सौन्दर्य मिला था?

"किन्तु उस समय इसके अन्तस्में भयंकर संघर्ष चल रहा था। यह क्या जाने, गँवार औरत, कि वह संघर्ष था क्या? वह तो था पतिके वरदान और तमाम नारीजातिके स्वाभिमानके बीच—

"माँ, बाप, भाई, बहिन सभीने समझाया। किन्तु इसने द्वार न खोला। तिरस्कृत अतिथि जैसे आया था वैसे ही चला भी गया।

"उसके बाद, सुनते हैं, यह बेहोश हो गई थी। इतने दिनसे बनी स्वाभिमानकी दीवार टूटनेको ही थी। उस संघर्षसे कई दिनों तक इसकी पागलोंकी-सी दशा हो गई होगी।"

कहानी समाप्त हो गई। मैंने पूछा—"अब क्या उम्र है इसकी?"

"यही होगी कोई साठ वर्ष"

"तबसे लगातार मायकेमें रहती है?

"हाँ, लगातार, भाइयोंकी, भतीजोंकी भैंसें चराया करती है। देखो न उसे..."

मैंने देखा उस ओर जहाँ वह थी।

"...कैसी दिखाई देती है? इसे मनुष्य कौन कहेगा? भैंसोंमें भैंस-ही-सी बन गई है। तभी तो मुझे याद आ गई थी 'मैकबेथ' की चुड़ेलों की!"

साँझ हो चली थी। ढोरोंके घर लौटनेका समय था। वह भी धीरे-धीरे भैंसोंको हाँकती हाँकती उधर आई जहाँ हम बैठे थे। सामनेसे निकली तो देखा उसे अपने आसपासकी चीजों या निकटस्थ व्यक्तियोंसे कोई संबन्ध नहीं था। एक निरपेक्ष, भावहीन, मूक दृष्टि। कभी-कभी कदाचित् यह मेरी भ्रान्तिमात्र हो—मैंने सोचा कि उन आँखोंमें एक बदली-सी उमड़ पड़ती होगी...जैसी संध्याके समय पश्चिमाकाशमें दिखाई देती है...अत्यन्त तेजस्विनी, अमित सौंदर्यमयी। किन्तु यह मेरा भ्रम था, केवल भ्रम। मैंने आज तक वैसी औरत कोई नहीं देखी थी। फिर भी मैंने कहा—"अरे यार, यह तो मानवी ही है—"

"तो मैं कब कहता हूँ कि नहीं है?"

थोड़ी देर चुप रहकर प्रकाश फिर बोला—"मैंने सुना है तुम व्यक्तियों-के शब्दचित्र लिखा करते हो?"

"हाँ, लिख लेता हूँ कभी-कभी—" मैंने उत्तर दिया।

"तो लिख डालो न इसका भी एक स्केच?"

"हाँ लिखूँगा किसी दिन," मैंने कहा।

पठान

सायंकालका समय था। नैनीताल घने कोहरेके परदेमें छिपा हुआ था। अभी दिनके समाप्त होनेमें काफी देर थी। किन्तु सूर्यास्तसे पहले ही, कोहरेकी सहायता पाकर अंधकारने अपने पैर फैलाने आरंभ कर दिये। झिलमिल-झिलमिल बिजलीकी बत्तियाँ जल उठीं। कोहरेके आवरणको फाड़कर उनका मंद प्रकाश अंधियाली दुनियामें इधर-उधर बिखर गया। एक हवाकी लहर उठी—तालाबका जल थिरकने लगा और प्रकाशके प्रतिबिम्ब उन लहरियोंपर नृत्य करने लगे। मैं अपने बंगलेके बरामदेमें एक कुर्सीपर बैठा हुआ अध-खुली आँखोंसे नैनीतालका अनोखा दृश्य देख रहा था। दूरपर बैंड बज उठा। संगीतकी एक लहर पैदा होकर शून्यमें विलीन हो गई। मैं अँगड़ाई लेकर कुर्सी छोड़ उठ खड़ा हुआ। शरीरका आलस्य दूर करनेके लिए बरा-मदेमें चहलकदमी करने लगा। मकानके सामनेकी ओर एक छोटा-मोटा बगीचा था जिसके बीचोंबीचमें एक रास्ता निकलकर सड़कसे मिल गया था। मैंने देखा, उसी रास्तेसे कोई व्यक्ति मेरी ओर आ रहा है। कोहरे और अन्धकारके कारण ठीक तौरसे मैं उसे पहचान न सका। वह नजदीक आया और बोला—

"बाबू, हींग लेगा?"

देखा, एक खासा लंबा-तगड़ा पठान सामने खड़ा है। उसकी पीठपर गठरी बँधी थी और एक हाथमें वह बड़ा-सा थैला लटकाये हुए था। हींगकी उत्कट गंध उसके कपड़ोंसे आ रही थी।

पीठकी गठरीको उतारकर जमीनपर रखते हुए वह कहने लगा,—

"बहुत उमदा हींग है, बाबू। मुलक-भरमें ऐसी हींग नहीं मिल सकती। हम लोग खास अपने देससे ये चीज लाते हैं।" यह कहते हुए गठ्ठरमेंसे एक डिब्बा निकालकर उसने मेरे सामने खोल दिया। एक तेज महक तमाम बरामदेमें फैल गई। हींगका प्रयोग अपने भोजनमें होना मैं अवश्य पसंद करता हूँ। किंतु अपने आसपासके वातावरणको भी 'हींगमय' बना डालना मुझे पसंद नहीं। दूसरे इस समय मुझे उसकी कोई खास आवश्यकता भी नहीं थी। इस लिये मैंने स्वयं ही डिब्बेपर ढक्कन लगाते हुए विरक्तिभरे स्वरमें कहा; "भाई, हींग तो जरूर अच्छी है, पर मुझे इस वक्त इसकी जरूरत नहीं। तुम फिर कभी आना, हो सका तो थोड़ी-सी ले लूँगा।"

जरा भी निराश न होकर उसने कहा, "न सही हींग—हमारे पास और भी बढ़िया-बढ़िया चीजें हैं। यह देखो बाबू, यह अम्बर है। असली, बहुत उमदा। यह कस्तूरी है—और यह जाफ़रान। इसे हम कांश्मीरसे लाते हैं। आपके मुलकके लोग तो जाफ़रानका नाम लेकर, जानते हैं, क्या बेचते हैं? पेड़के पत्तोंका चूरा। रंग और असली केसरकी खुशबू मिला दी—बस जाफ़रान बन गया। पाँच रुपया तोला बेचते हैं—बेईमान लोग।" और वह अपने पीले-पीले दाँतोंको निकालकर हँसने लगा।

मुझे कस्तूरी और केसरकी आवश्यकता थी। बरामदेमें बिजलीकी रोशनी जलाकर मैं पठानके पास अपनी कुर्सी ले आया और ध्यानसे उसकी वस्तुओंको जाँचने परखने लगा। वह कहता ही जा रहा था—

"मैं वज़ीरिस्तानका रहनेवाला हूँ, बाबू। असली वज़ीरी। मरने और मारनेका हम लोगोंका पेशा है।" अपनी गठरीकी ओर संकेत करते हुए उसने कहा, "यह काम तो हम लोग मर जायँगे तो भी नहीं करेंगे। पर क्या करें, बाबू? तक़दीर बड़ी ज़बरदस्त होती है। इसीसे लाचार होकर मैं इस तरह गठरी पीठपर लादकर, गली-गली हींग बेचता फिरता हूँ।" इतना कहकर वह एक लम्बी साँस लेकर चुप हो गया—मानों एक आन्तरिक उद्वेगके वशमें होकर वह कुछ कहना चाहता हो, किन्तु किसी अपरिचितके आगे अपना हाल कह देना उचित न समझकर वह खामोश रह गया।

मैंने दो-तीन तोला केसर और थोड़ी-सी कस्तूरी मोल ली। उसका दाम देकर मैंने कहा—"खान, तुम कुछ कह रहे थे—कहो न।"

"क्या बाबू?" उसने मेरी ओर देखकर मुस्कराते हुए पूछा।

"वही जो तुम कह रहे थे—तक़दीरकी बाबत। तुमने कहा न था कि मज़बूर होकर तुम्हें यह काम करना पड़ा है?"

"हाँ, लेकिन क्या करोगे सुन कर, बाबू?"—अपनी बिखरी वस्तुओंको समेटकर गठरीमें बाँधते हुए उसने कहा, "जिस आदमीके दिलमें चोट लगी होती है—बाबू साहब, उसका किस्सा न सुनना ही बेहतर है।"

मुझे उसका हाल सुननेकी और भी अधिक उत्सुकता हो गई। मैंने देखा इस मामूली हींग बेचनेवाले खानके हृदयमें एक बड़ा भारी व्यथापूर्ण रहस्य भरा हुआ है, जिसे प्रकट करनेमें उसे अत्यन्त कष्टका अनुभव हो रहा है। इसलिए मैंने अधिक आग्रह करते हुए कहा, "नहीं-नहीं खान, तुम्हें अपनी दास्तान सुनानी ही पड़ेगी। दिलका दर्द दूसरेसे कहनेपर बँट जाता है। दिलमें छिपा रखनेसे वह उतना ही ख़तरनाक हो उठता है जितनी राखके अन्दर छिपी हुई आग।"

"अच्छी बात है—तो सुनो बाबू। आप शरीफ आदमी मालूम होते हैं। आपसे कहनेमें कुछ हर्ज़ नहीं।" खानने मेरा आग्रह देखकर एक शुष्क हँसी हँसते हुए अपनी कहानी सुनाना आरम्भ किया।

बरामदेके बाहर पूर्ण अन्धकारका साम्राज्य स्थापित हो चुका था। नैनीतालके पहाड़पर यत्रतत्र जलती हुई बिजलीकी बत्तियाँ घने कोहरेमेंसे ऐसी दिखाई दे रही थीं, जैसे शैतानकी लाल-लाल आँखें। बैण्ड अब भी बज रहा था। उसकी रोती हुई तान हवामें गूँज रही थी!

पठानने अपना किस्सा कहना आरम्भ किया। टूटी-फूटी, गलत भाषामें जो कुछ उसने कहा, उसका सारांश मैं यहाँ दिये देता हूँ।

२

याकूबखाँ उसका नाम था। बन्नूसे कोई पच्चीस मील आगे एक गाँवमें रहा करता था। गाँवमें जो फ़िरका रहता था उसमें अधिकांश वज़ीरी कौमके पठान शामिल थे। याकूब भी वज़ीरी था। उसका बाप हसनखाँ अपने

फ़िरकेका सरदार था। आस-पासके गाँवोंमें उसकी धाक थी। जवानीके दिनोंमें हसनखाँ सारे इलाके भरमें अपनी वीरता और उद्दण्ड साहसके लिये प्रसिद्ध था। जबतक वह गाँवका सरदार रहा—किसी दूसरे गिरोहकी क्या मजाल कि वह हसनखाँके गाँवपर आक्रमण कर सके। कदाचित किसीका आक्रमण हो भी गया तो हसनखाँके गिरोहके आगे उसे हार खानी पड़ती और आक्रमणकारियोंमेंसे शायद ही कोई जीवित लौटता।

हसनखाँके परिवारमें उसे लेकर कुल चार प्राणी थे। हसनखाँ, उसका लड़का याकूब, अठारह वर्षकी युवती कन्या फीरोजा, और उनका एक नौकर। याकूबकी माँ लड़कीके जन्म होनेके दो वर्ष बाद ही मर गई। माँके मरनेके बाद बालिका फीरोजा बापके लाड़-दुलारकी छायामें पलने लगी। याकूब बचपनसे ही अपनी बहिनको अत्यन्त प्यार करता। फीरोजा ही उसके लिये सब कुछ थी। वह अपने बापके साथ कभी कभी बन्नू जाया करता था। वहाँसे लौटते समय वह फीरोजाके लिये खिलौने, मिठाई इत्यादि लाना कभी न भूलता। इस तरह हसनखाँकी यह छोटी-सी गिरिस्ती सुख और सन्तोषमें अपनी जिन्दगी बसर कर रही थी।

लेकिन सुखके क्षण व्यतीत होनेमें कुछ भी देर नहीं लगती। एक दिन ऐसी एक घटना हो गई जिससे हसनखाँकी यह सुखमय गिरिस्ती हमेशाके लिये तितर-बितर हो गई।

उस प्रान्तके निवासियोंका मुख्य पेशा है लूट-मार। प्रकृतिने वहाँके प्रत्येक मनुष्यको इसी साँचेमें ढाल रक्खा है। एक दिन हसनखाँका गिरोह बन्नूसे पेशावर जानेवाली सड़कपर कहीं छापा मारने गया हुआ था। सुना था, पेशावरके कुछ बनियोंका काफ़िला माल लादकर उसी सड़कसे जा रहा है। दो पहाड़ोंके बीचमें एक तंग जगहपर लुटेरोंने हमला कर दिया। उनमेंसे बहुतोंके पास बंदूकें थीं—किसी-किसीने गोली भी चलाई। परन्तु अन्तमें हसनखाँके गिरोहने प्रत्येक सौदागरको पकड़कर उनकी मुश्कें चढ़ा दीं और जिनके पास जो कुछ था, वह लेकर उन्हें छोड़ दिया।

रामरतन पेशावरके मालदार रईसका लड़का था। युवक था—मनचला शौकीन। केवल सैर करनेके लिये वह भी काफ़िलेके साथ चल दिया था। हसनखाँको जब मालूम हुआ कि रामरतन एक बड़े रईसका लड़का है, तो

उसने उसे नहीं छोड़ा। अपने साथ कैद करके गाँवमें ले आया। रामरतनको अपने पिताके लिये इस आशयका पत्र लिखनेका आदेश दिया गया, कि यदि दस हजार रुपये हसनखाँके पास भेज दिये जायँ तो वह छोड़ दिया जायगा। रुपये मिलनेकी अवधि एक महीनेकी थी। यदि इतने समयके अन्दर रुपये न भेजे गए तो गिरोहके सरदारकी आज्ञासे उसे गोली मार दी जायगी।

× × ×

फीरोजाके अंग अंगपर जवानी इठला रही थी। विश्व-भरमें उसके लिये बसन्तकी बहार छाई हुई थी। हृदय मादक उन्मादसे भरा हुआ था और आँखोंसे विलास फूट-फूट पड़ता था। ऐसे ही समय रस्सियोंसे बँधे कैदी रामरतनसे उसकी चार आँखें हुईं। हृदय तूफानी बाढ़की भाँति उमड़ आया और फीरोजा उसीके प्रवाहमें बह चली।

× × ×

हसनखाँके मकानसे सटे हुए एक सींकचेदार कमरेमें रामरतन कैद किया गया था। प्रतिदिन सुबह-शाम एक नौकर दो मोटी-मोटी तंदूरी रोटियाँ और एक प्याला पानी पीनेको दे जाया करता था। रुपये आनेकी अवधिके करीब बीस दिन समाप्त हो चले थे, किन्तु तब तक कोई भी मनुष्य उसके पिताका उत्तर लेकर नहीं आया। रामरतन अब तो सचमुच घबराने लगा। केवल दस दिन और बाकी बचे थे। उसके बाद वह कुत्तोंकी मौत मारा जायगा।

एक दिन प्रातःकालके समय रामरतन अपनी कोठरीमें बैठा हुआ अपने भाग्यको कोसता हुआ रो रहा था। इतनेमें दरवाजा खुला। हाथमें रोटी और पानी लिये नौकरके बजाय फीरोजाने कैदी कमरेमें प्रवेश किया।

"कैदी, लो तुम्हारे लिये रोटी आज मैं लाई हूँ। लेकिन यह क्या?" फीरोजाने रामरतनको आँसू पोंछते देखकर पूछा। परन्तु दूसरी ओरसे कुछ भी उत्तर न पानेपर उसने फिर कहा, "छिः, रोते हो! औरतोंकी तरह? मौतके डरसे? मुझे पहिचानते हो?—मैं यहाँके सरदारकी लड़की हूँ। मैं तुम्हें मरने न दूँगी। आओ, अब रोटी खालो।"

फीरोजाके कहनेसे रामरतनको मानो आकाशका चाँद मिल गया। उसे अब कैदसे जीवित छूटनेकी आशा हो आई थी। उसने फीरोजाकी ओर मुड़कर कातर स्वरसे कहा, "तुम मुझे बचाओगी? तुम्हारे कहनेसे सरदार क्या मुझे जीता ही घर जाने देंगे?"

"हाँ, लेकिन एक शर्तपर," फीरोजाने कहा,—

रामरतनका उत्तर पाकर फीरोजा जब वहाँसे चली तो उसका हृदय उछला पड़ रहा था।

× × ×

कई रोज बाद एक दिन सरदारका आदमी रामरतनकी कोठरीमें आया और उसके हाथोंमें हथकड़ी चढ़ाकर अपने साथ बाहर ले गया। बाहर जो कुछ उसने देखा उससे उसके होश हवा हो गए। मैदानमें अर्द्धचन्द्राकार वृत्तमें गिरोहके सारे आदमी जमा हो गए थे। उनके बीच हसनखाँ एक तख्तपर बैठा हुआ था। रामरतनको देख कर उसने क्रोधमें आकर कहा, "देखो जी, तुम्हारे घरसे रुपया नहीं आया और न कोई जवाब। उल्टे उन लोगोंने हमारे आदमीको, जो तुम्हारा खत ले गया था; पुलिसके सुपुर्द कर दिया है। जो एक महीनेकी मोहलत तुम्हें दी गई थी वह भी आज खत्म हो गई है।"

हसनखाँने एक पठानको कुछ इशारा किया। इसपर वह आदमी बंदूक लेकर कैदीके बगलमें जाकर खड़ा हो गया। भयके मारे रामरतनका बुरा हाल था। उसने गिड़गिड़ा कर दीनताभरे स्वरमें हसनखाँसे कहा, "सरदार, मुझे छोड़ दो। ईश्वर तुम्हारा भला करेगा।"

हसनखाँ डाँट कर बोला, "खामोश। पठान वादेके सच्चे होते हैं। तुम्हारे बापने रुपया भेज दिया होता तो हम तुम्हें छोड़ देते। मगर अब हम नहीं छोड़ सकते। इस्माइल, तुम अपना काम करो।" उसने बंदूकवाले पठानको पुकार कर कहा।

इतनेमें बिजलीकी भाँति कहींसे आकर फीरोजाने सरदारके पैर पकड़ लिये। "उसे छोड़ दो, अब्बाजान। फिजूल एक बेक़सूरका खून बहानेसे गुनाह होता है। छोड़ दो उसे।"

एकाएक फीरोजाके आकर इस तरह प्रार्थना करनेसे हसनखाँ विस्मित हो गया। तुनक कर उसने लड़कीसे कहा, "तू यहाँ क्यों आई फीरोजा? और कहती है कैदीको छोड़ दो? मुँहलगी कहींकी! जा, घर जा, अपना काम देख। यहाँ किसने कहा था तुझे आनेको?"

"मैं खुद ही यहाँ आ गई अब्बाजान। मैं तुम्हें सच बताऊँ? मैं उससे निकाह करूँगी।" फीरोजाने अपने पिताके कँधोंको हिलाते हुए कहा, "अब्बा, छोड़ दो—" कहते-कहते उस की आँखोंसे आँसू बहने लगे।

"निकाह करेगी उससे? काफिरसे?—" हसनखाँने गरज कर पूछा।

"हाँ। वह काफिर है तो क्या मुसलमान नहीं बन सकता? उसने मुझसे वादा किया है, अब्बा जान।" फीरोजाने सिसकते हुए कहा।

हसनखाँ मनुष्य था, पत्थर नहीं। अपनी जवानीके दिनोंमें वह प्रेमसे भली भाँति परिचित था। लड़कीके आँसुओंने उसका हृदय पिघला दिया। उसने मुस्कराते हुए रामरतनकी ओर देखकर पूछा, "क्यों जी, जो फीरोजा कह रही है, वह सच है? तुम शादी करोगे मेरी लड़कीसे?"

रामरतनने स्वीकृति जताते हुए सिर हिला दिया।

उस दिनसे रामरतन हसनखाँके परिवारका ही एक सदस्य बन गया। हसनखाँ अपनी बेटीको सुखी देखना चाहता था। एक विधर्मी और परदेसी व्यक्तिके साथ जब उसने फीरोजाका बढ़ता हुआ प्रेम देखा तो केवल इसलिये उसने किसी प्रकारकी बाधा न डाली कि इससे फीरोजाको अत्यंत दुःख होगा। किन्तु याकूबको पहिले ही दिनसे रामरतनका मुक्त होकर उसी घरमें रहना किसी भाँति ठीक न जँचा। वह न जाने क्यों शुरूसे ही इस व्यक्तिको संदेहकी दृष्टिसे देखने लगा था। वह नहीं चाहता था कि अपनी बहिनका, जिसे वह अपने प्राणोंसे भी अधिक मानता, रामरतनके द्वारा किसी प्रकारका अनिष्ट हो। इसी विषयपर एक दिन उसने हसनखाँसे कहा, "अब्बाजान, फीरोजा गलत राहपर है। मुझे रामरतन तो कोई अच्छा आदमी नहीं मालूम होता।"

इसपर हसनखाँने केवल मुस्करा कर कहा था, "याकूब, तुम उस ताकतसे अभी नावाफ़िक हो, जिसने फीरोजा और रामरतनको बाँध दिया

है। तुम्हारा शक फिजूल है। मैं समझता हूँ, जो कुछ हो रहा है, ठीक ही है।"

पिताके शब्दोंसे याकूबके हृदयको सांत्वना नहीं मिली। फीरोजाके भविष्यके प्रति एक बड़ी भारी आशंका हमेशा उसके कलेजेमें खटकती रही।

उस दिन साँझका समय था। याकूब अपने साथ बन्नूसे लौट कर घर आ रहा था। एक नया घोड़ा उसके लिए मोल लिया गया था। उसपर सवार होकर याकूब प्रसन्नचित्तसे घोड़ेकी चालपर मुग्ध होता हुआ मन-ही-मन कुछ गुनगुना रहा था। अचानक एक विचार बिजलीकी भाँति उसके मस्तिष्कमें आया। अपने पिताको पुकार कर उसने कहा, "चलो, जल्दी भाग चलो घरको। फीरोजा आज अकेली है—रामरतनके साथ। गाँववाले भी सभी टोहमें बाहर गए हैं।"

"अरे, क्या पागल हुआ है तू?" हसनखाँने हँसकर याकूबसे कहा—"फीरोजा अकेली है तो इसमें डरनेकी कौन-सी बात है?"

"नहीं अब्बा, मेरा दिल नहीं मानता। रामरतन खतरनाक आदमी है। मुझे उसपर इतमीनान कभी नहीं हुआ।"—यह कहकर याकूबने घोड़ेको एड़ लगाई। घोड़ा तीरकी भाँति दौड़ चला। हसनखाँको भी विवश लड़केके साथ ही अपना घोड़ा दौड़ाना पड़ा।

घरपर पहुँचते ही याकूब एक ही छलाँगमें अन्दर चला गया। आज न जाने क्यों उसपर पागलपन-सा सवार हो रहा था। "फ़ीरोजा, फ़ीरोजा"—उसने पुकारा। कोई उत्तर न मिला। उसका माथा ठनका। एक भयंकर आशंकासे उसका रोम-रोम सिहर उठा। फीरोजाके कमरेमें जाकर जो कुछ देखा उससे हठात् उसके मुँहसे चीख निकल गई। हसनखाँने बाहरसे पुकारा—"क्या है याकूब?"

"जो होना था वही हुआ, अब्बाजान"—याकूबने रोकर कहा।

हसनखाँने कमरेमें आकर देखा, कमरेका फर्श रक्तसे सिंचित हो रहा है। रामरतन भाग गया था।

३

बरामदेमें बिजलीका तीव्र प्रकाश हो रहा था। फिर भी मुझे प्रतीत

हुआ मानों एक भयंकर पापकी कालिमा प्रकाशको अतिक्रांत करके मेरे चारों ओर छा गई है । बाहर बगीचेमें लगे हुए सेबके वृक्ष, कोहरेसे ढके होनेके कारण, ऐसे दिखाई दे रहे थे जैसे असंख्य काले-काले भूत, खड़े हों ।

अपना किस्सा कहते-कहते, पठान भी, भावावेशसे थोड़ी देर तक चुप हो रहा । फिर मानो अपनी संज्ञाओंको बटोरता हुआ-सा वह भर्राई आवाज-में कहने लगा, "बाबू, हमारे मुलकमें कोई बादशाहत नहीं है । लाल पगड़ी-वाले पुलिसके आदमी भी वहाँ नहीं हैं, जो कायदे कानून बनाकर लोगोंको बाँध सकें । लेकिन गुनाह सभी जगह गुनाह ही होता है । उस मुलकमें भी जहाँ हरेक आदमी हवाकी मानिन्द आज़ाद है, एक कानून है—'खूनका बदला खूनसे लिया जाय ।' बस इसी एक कायदेमें वहाँके तमाम आदमी बँधे हुए हैं । गुनहगार बगैर सजा पाये वहाँ भी नहीं बच पाता । और ऐसा गुनाह ?—या खुदा !" इतना कहकर पठान फिर रुक गया । मैंने देखा आवेशसे उसके दोनों हाथोंकी मुट्ठियाँ बँध गई हैं । आँखें अंगारेकी तरह लाल हो गई थीं । अपनी गठरीमेंसे टटोलकर उसने कोई वस्तु बाहर निकाली । मैंने आँखें फाड़कर विस्मयसे देखा, एक छुरा था । रक्तमें सना हुआ । बहुत समयसे लगा रहनेके कारण खून सूखकर काला पड़ गया था । पठान कहने लगा, "मै अपनी बहनको अपनी जानसे ज्यादा प्यार करता था, बाबू । जब उसी बहनकी छातीमें मैंने यह छुरा घुसा हुआ देखा—आह...मैंने उसी वक्त फीरोजाकी छातीसे इसे निकाल लिया और खुदाको गवाह रखकर यह कसम खा ली कि रामरतन जहाँ कहीं भी होगा, मैं उसे खोज निकालूँगा, और बहनके खूनमें रंगा हुआ यह छुरा उसके खूनसे जा मिलेगा । फीरोजाको मरे आज आठ साल हो गए हैं । इसी बीचमें मेरे वालिद साहब भी रंज और गमके सबब वहीं चले गए जहाँ फीरोजा गई है । रह गया मैं, सो सौदागरका वेष रखकर हींग बेचता हुआ सारे हिन्दुस्तानमें उस आदमीको खोजता फिरता हूँ, जो मेरी बहिनका क़ातिल था ।"

पठानने अपनी कहानी समाप्त कर दी । मैंने सोचा, हींग और कस्तूरी बेचनेवाले, सीधेसादे दिखाई देनेवाले इस मनुष्यके अन्दर प्रतिहिंसाकी कैसी भयंकर अग्नि प्रज्वलित हो रही है ! कितना भयानक है यह व्यक्ति ? फिर

उसी समय विचारने पलटा खाया। हृदयने कहा—नहीं, जिसे तुम क्रूर और निर्दयी समझ रहे हो वह भी तुम्हारी ही तरह दया और ममतासे भरा हुआ एक मानव प्राणी ही था। सृष्टिके चौरासी लाख जीवोंमें कोई ऐसा नहीं है जिसमें परिस्थितिके वशमें होकर प्रतिक्रियाकी भावना जागृत न हो जाय। फिर यह तो मनुष्य है। अपनी बहिनके कल्याणके लिये जब यह किसी समय अपने प्राण देनेसे भी नहीं हिचकता—तो आज उसीके रक्तको बहानेवाले व्यक्तिके प्रति यदि इसके हृदयमें बदलेकी ज्वाला जल उठी है तो, इसमें आश्चर्य ही क्या है? हम लोग तरह-तरहके कानूनों और दण्ड-विधानोंसे जकड़े रहनेके कारण कायर हो गए हैं। हमारे हृदयोंमें अत्याचारके प्रति विरोध प्रदर्शित करनेकी भावना चिरप्रसुप्त हो गई है। इसीलिए इस मनुष्यका कार्य जिसके देशमें राजसत्ता नहीं, कोई कानून नहीं, जहाँ आदमी अपने प्रति किये गए अत्याचारोंका बदला आँखके बदले आँख और दाँतके बदले दाँत, लेकर देते हैं—हमें नियमविरुद्ध मालूम होता है। फिर भी मैंने कहा—

"खान, उस आदमीको मार डालनेसे तुम्हारी बहन तुम्हें वापिस नहीं मिल सकती। फिर इस फिजूलकी आगसे क्यों अपने दिलको जला रहे हो?"

पठानने अबकी हँसकर उत्तर दिया। "बाबू, जहाँ फीरोजा चली गई है वहाँसे उसे लौटानेकी ताकत हमें खुदाने बख्शी ही नहीं। नहीं तो एक आदमीको मार डालनेके खब्तमें पड़नेके बजाय मैं अपनी बहनको ही बहिश्तसे वापिस न ले आता? पर नहीं। मेरी बहन रामरतनको सच्चा प्यार करती थी। वह जहाँ है वहीं—उसका साथ देनेके लिये—रामरतनको भी जाना पड़ेगा।" कुछ रुककर उसने फिर कहा—"अच्छा बाबू, मेरा किस्सा सुन लिया न, अब मैं जाता हूँ। कल नैनीतालसे चला जाऊँगा। इस जिन्दगीमें खुदाने चाहा तो फिर भेंट होगी। अच्छा सलाम।"

यह कहकर अपने भारीभरकम गट्ठरको पीठपर डालकर धीरे-धीरे अहातेके बाहर हो गया। न जाने क्यों, मुझे आज ठंड-सी मालूम हो रही थी, इस लिए मैं भी बरामदेकी रोशनी बुझाकर अन्दर चला गया।

कोई भी याददाश्त तभी तक कायम रहती है जबतक दूसरी घटना आकर मनुष्यके हृदयपर अपनी छाप नहीं लगा देती है। पुरानी स्मृतियाँ

इसी भाँति, जैसे-जैसे समय बीतता चला जाता है, मिटती चली जाती हैं। आज दो साल बीत चले। इन दो वर्षोंमें उस हींग बेचनेवाले पठानकी याद भी मेरे दिमागसे करीब-करीब उतर चुकी थी। दुनियादारीके पचड़ोंमें कौन किसे स्मरण रख सकता है?

इधर कुछ दिनोंसे छोटे भाईकी तबियत खराब हो चली थी। नैनीतालमें उसका इलाज ठीक तौरसे नहीं हो रहा था। डाक्टरोंने राय दी कि उसे देहली ले जाकर वहाँ किसी नामी चिकित्सकसे सलाह ली जाय। इसलिए एक दिन हम लोग सपरिवार देहलीके लिए रवाना हो गए।

नैनीतालसे देहली जानेके लिये बरेलीमें गाड़ी बदलनी पड़ती है। अतएव ज्यों ही कलकत्तासे पेशावर जानेवाली एक्सप्रेस स्टेशनपर आकर रुकी, त्यों ही हम औरोंकी भाँति भेड़-बकरीकी तरह जो डिब्बा सामने आया उसीमें चढ़ बैठे। जितनी भीड़ बाहर दिखाई देती थी उतनी डिब्बेके अन्दर नहीं थी। इसलिये हम लोग आरामसे छिटक कर बैठ गए। पन्द्रह मिनट बाद गाड़ी चल दी। मैं पीठका सहारा लगाये हुए अपने विचारोंमें लीन हो गया।

अचानक "बाबू, सलाम" की परिचित-सी आवाज कानोंमें पड़ी। मेरा ध्यान भंग हो गया। मैंने मुड़कर देखा ठीक मेरे पीछेकी सीटपर, सारी बेंच घेरे वही पठान याकूबखाँ बैठा है। मैं उत्सुकताको छिपा न सका। मैंने चटसे पूछा, "कहो खान, तुम यहाँ कैसे?"

"वतनकी ओर जा रहा हूँ। बाबू, दस साल हो गया, घरकी सूरत नहीं देखी। यहाँ बैठिए, बेंच तो पूरा खाली है।" यह कहकर उसने अपने सामनेका स्थान हाथसे झाड़ पोंछकर मुझे अपने पास बुलाया।

न जाने क्यों, इस व्यक्तिसे मेरा प्रेम बढ़ चला था। दो साल पहले उसने अपनी दुःखान्त कहानी मुझे सुनाई थी। उसके बादका हाल सुननेका मेरा कौतूहल बढ़ना स्वाभाविक ही था। इसलिए मैंने उससे पूछा, "आज आ कहाँसे रहे हो?"

"बनारससे—" उसने उत्तर दिया।

इसके बाद कुछ और पूछना चाहता था, लेकिन हठात् एक विचार मेरे मस्तिष्कमें सुई-सा चुभ गया। मैंने सोचा, शायद यह रामरतनका खून

करके न आया हो और पुलिससे बचनेके लिए अपने मुल्क भाग रहा हो। इस विचारसे मुझे एक अजीब डर-सा मालूम हुआ।

कदाचित् मेरे विचारको वह भाँप गया था, इसलिए उसने हँसकर कहा—"बाबू, आप रामरतनके बारेमें सोच रहे होंगे। मगर मैंने उसे मारा नहीं।"

उसके कहनेपर विस्मित होकर मैंने पूछा, "वह तुम्हें कहाँ मिल गया था?"

"बनारसमें। वहीं उसने कपड़ेकी दूकान खोल रक्खी है। उसकी बीबी और एक लड़की उसके साथ है। पेशावरमें हम लोगोंके डरसे वह नहीं रह सका। एक दिन मैं रोजकी माफ़िक बनारसी गलियोंमें चक्कर लगा रहा था। इतनेमें मेरी उसपर नज़र पड़ गई। अपने मकानके जंगलेपर वह खड़ा था। मैं हींग बेचनेके बहाने भीतर चला गया। हम लोगोंकी बात-चीत होने लगी। थोड़ी ही देरमें न मालूम किस तरह वह मुझे पहिचान गया। मारे डरके उसका चेहरा फक पड़ गया। जैसे ही उसने वहाँसे भागनेकी कोशिश की, मैंने उसे धर दबाया और उसी फिरोजाके खूनसे रंगे छुरेसे उसकी जान लेनी चाही। मगर उसी वक्त दूसरे कमरेसे उसकी बीबीने आकर मेरा हाथ पकड़ लिया और रोते हुए उसने मुझसे कहा:—

"इन्हें माफ़ कर दो, खान। मैं सारा किस्सा इन्हींके मुँहसे सुन चुकी हूँ। ये इसी सजाके क़ाबिल थे। मगर मेरे ऊपर तरस खाओ। मुझे बेवा मत बनाओ, खान।"

इतना कहकर पठान कुछ देर चुप रहा। फिर उसने कहना शुरू किया, "मैं सच कहता हूँ बाबू, जिस वक्त मैंने रामरतनकी बीबीको देखा, मेरे हाथसे छुरा आप ही आप जमीनपर गिर पड़ा। मैंने देखा, उसकी आँखें बिलकुल फीरोजाकी आँखोंकी तरह थीं। वही चेहरा, वैसे ही दाँत। बिलकुल वही, वही! मैं रामरतनको छोड़कर अलग हट गया और बोला, 'तुम जो कोई भी हो मुझे इसकी परवा नहीं। मगर तुम्हारी सूरत बिल्कुल मेरी बहन फीरोजासे मिलती है, जिसे तुम्हारे खाविंदने बेक़सूर मार डाला था। तुम्हारे ही लिए मैं रामरतनको छोड़ देता हूँ, वरना आज कोई ताकत इसे मेरे हाथसे छुड़ा नहीं सकती थी।' इतना कहकर मैं वहाँसे चला आया। रामरतन बच

गया। मैंने सोचा फीरोजाको मंजूर नहीं था कि वह मेरे हाथों मारा जाय।"

पठानके कह लेनेपर मैंने प्रश्न किया, "उन्होंने तुम्हें पुलिसमें नहीं दे दिया?"

"यही ताज्जुब मुझे भी हो रहा है, बाबू। मगर मैं सोचता हूँ कि जिसने मेरे हाथसे रामरतनको बचाया उसीने पुलिसमें खबर भी न करने दी होगी।"

"अब तुम वतन जा रहे हो—फिर कभी इधर आओगे?"

"नहीं, अब यहाँ आकर क्या करूँगा? अब हींग नहीं बेचूँगा। घर जाकर अपने काम-काजमें लग गया तो फिर मुझे दुनियाकी भी कोई फिक्र नहीं रहेगी। हाँ, एक बात जरूर जिन्दगीभर मुझे सताएगी," उसने एक ठंढी साँस छोड़कर कहा—"वह है फीरोजाकी याद।"

रेलगाड़ी दौड़ी जा रही थी। कमरेमें सभी मुसाफिर मौन थे। मैं और पठान भी दोनों निःशब्द बैठे थे। मेरी दृष्टि डिब्बेकी छतपर जमी हुई थी। वह खिड़कीसे बाहरका दृश्य देखनेमें लगा हुआ था।

चार चित्र और मेरा प्रश्न

(१)

सुबह-शाम कभी कभी टहलने निकल जाता हूँ, अक्सर महेन्द्र-बाग़की तरफ़ ताल दरवाज़ेके नज़दीक़ प्रायः मुझे एक छोटा-सा लड़का मिल जाता है। डेढ़ पसलीका, मैला कुचैला, अधनंगे बदनपर फटे-फटाये कपड़े पहने।

मुझे दूरसे देखते ही वह सड़कके किनारे ठीक सिपाहीकी तरह तनकर खड़ा हो जाता है और पतली-सी कुछ काँपती आवाज़में कहता है, "ग़रीब-परवर राम-राम।"

एक दिन मैंने जान-बूझकर उसकी 'राम-राम' का उत्तर न दिया और उसकी ओर बिना देखे ही आगे बढ़ गया। कुछ दूर जाकर मुझे अपने पीछे छोटे-छोटे पैरोंके दौड़नेका-सा शब्द सुनाई दिया। मुड़कर देखा, वही लड़का मुझे अपनी ओर देखते देखकर खड़ा हो गया और बोला "ग़रीबपरवर, राम-राम।"

मैंने सोचा, उसकी इस प्रतिदिनकी 'राम-राम'में कुछ न कुछ स्वार्थ अवश्य है और उससे पूछा, "क्यों रे क्या चाहता है? पैसा?"

मेरे प्रश्नको सुनकर उसके चेहरेपर, न जाने क्यों, किंचित् भयकी रेखा-सी दिखाई दी और वह बिना कुछ उत्तर दिये वापस जाने लगा। मैंने दौड़कर उसे पकड़ लिया और अबकी डपटकर पूछा, "तो रोज़ रोज़ 'राम-राम' क्यों करता है?— अच्छा, पैसा न सही, और कुछ चाहिए?"

तब बड़ी मुश्किलसे टूटी-टूटी आवाज़में उसने कहा, "हमें कुछ नईं चाने, हजूर। आप मालिक हो। एईके लाने राम-राम करी हती।"

मैंने उसका हाथ छोड़ दिया और वह चला गया। बादमें मुझे मालूम

हुआ कि वह हरेक भले आदमीको, जो उस राहसे निकलता है इसी भाँति राम-राम किया करता है। 'भले आदमियों'से यहाँपर मेरा तात्पर्य उन लोगोंसे है, जिन्हें मेरी ही तरह, निष्प्रयोजन ज्यादा खाना, अच्छे कपड़े और बने ठने फिरनेके लिए थोड़े-से बेकार पैसे मिलते हैं।

(२)

मेरे एक पंजाबी मित्र हैं। सुशिक्षित हैं और सहृदय भी कहलाते हैं, परोपकारका दम भरते हैं। गरीबोंके उद्धारकी चिन्ता उन्हें दिन-रात सताती रहती है और उनके मस्तिष्कमें नवीन-नवीन योजनाओंका जन्म हुआ करता है।

जिन दिनोंकी मैं बात कह रहा हूँ, उन्हें जगह-जगहपर अनाथालय खुलवानेकी धुन सवार थी।

एक दिन हम दोनों साइकिलोंपर कहीं जा रहे थे। एक जगह मोड़पर उन पंजाबी महाशयकी साइकिल एक लँगड़े देहाती युवकसे टकरा गई। बेचारा धड़ामसे गिर पड़ा। उसका सिर एक पत्थरसे टकरा गया और लहू बह निकला।

जबतक मैं साइकिलसे उतरकर उसके पास पहुँचा, उससे पहले ही मेरे मित्र महाशय उस देहातीके पास पहुँच गये, और दोनों हाथों पैरोंसे लगे उसपर प्रहार करने।

मैंने किसी तरह उन्हें शान्त किया और फिर हम दोनोंमें वहींपर गरम बहस होने लगी। मुझे गुस्सा आ रहा था। मैंने कहा, "बड़े बनते हो गरीबों-के हिमायती! तुम्हें तो चाहिये था कि उसे अस्पताल ले चलते, लेकिन तुम तो उल्टे अपने ही क़सूरपर उसे पीटने लगे। धिक्कार है तुम्हें!"

इसपर वे अत्यधिक रुष्ट हो उठे और हम दोनोंमें बहसके बदले झगड़ा होने लगा। देहाती वहींपर बैठा हुआ "हाय बाप रे—हाय मैया री" चिल्ला रहा था। मैंने उसके पास जाकर कहा, "उठो चलो मेरे साथ—थानेमें रपट लिखा दो। मैं गवाही दूँगा। देखता हूँ ये जनाब कितना ऊँचा दिमाग़ रखते हैं।"

इसपर वह देहाती बोला, 'नहीं सरकार, बड़े आदमियोंकी रपट मैं नहीं करूँगा। आज तो सिर फूटा मगर कल मेरी झोपड़ी बिक जायगी।"

मित्र महाशय मुझसे बिना कहे ही साइकिल उठा कर चलते बने। जब मैं भी जाने लगा तब वह देहाती बोला—"दो पैसे दे दो सरकार, चने खा लूँगा।"

मैंने उसे पैसे दिये और यह सोचता हुआ मैं वहाँसे चल दिया कि इस देहाती और मेरे मित्रमें, किसकी आत्मा ज्यादा मुर्दा हो चुकी है?

(३)

मेरे एक दूसरे मित्र हैं। मित्र ही नहीं, बल्कि मेरे बड़े ही शुभचिन्तक हैं। मेरे उन थोड़ेसे 'अपनोंमें' एक ये भी हैं, जिनपर मैं विश्वास करता हूँ कि जब अँधेरेमें मुझे चलना होगा तब ये मशाल लेकर मेरे आगे-आगे चलेंगे। मुझे राह दिखायेंगे।

उच्च-जातिके ब्राह्मण हैं। जीविका-उपार्जनके कई सुन्दर साधनोंके अलावा उनका एक और पेशा है। वह है परंपरागत पैतृक पुरोहितवृत्ति। इसका वे त्याग नहीं करते—नहीं कर सकते।

एक दिन मैं उनके मकानपर बैठा हुआ था। श्री रवीन्द्रकी 'खेया' पढ़कर वे मुझे सुना रहे थे। जहाँपर मुझे समझनेमें कठिनाई होती, वे हिन्दीमें अनुवाद कर देते।

इतनेमें दो व्यक्ति वहाँ आये। भलेमानस थे। आते ही वे जमीनपर लम्बे हो गये और हाथोंसे पंडितजीके—मेरे मित्र महोदयके—चरण छूने लगे। मालूम हुआ वे लोग पंडितजीके यजमान थे। किसी कार्यवश देहातसे टीकमगढ़ आये थे। आज ही जा रहे थे और जाते समय गुरु महाराजके चरण स्पर्श करने आये थे।

उनके जानेपर मैंने पंडितजी से पूछा—"क्योंजी, जब ये लोग जमीन-पर लोट-लोट कर आपके पैर छू रहे थे, उस समय आपको कैसा लग रहा था?"

मेरे कहनेका तात्पर्य समझ कर बेचारे पंडितजी लज्जित-से होकर कहने लगे—"तुममें यही तो आदत खराब है। कुछ समझते हो नहीं और ताने कसने लगते हो।"

मैंने पंडितजीसे कहा, "आप भला मानें चाहे बुरा। मैं तो कहूँगा कि

मनुष्यकी कोटिसे आप परे नहीं हैं कि दूसरा ठीक आप-ही-सा मनुष्य बिला वजह कुत्तेकी तरह आपके सामने झुके—आपके तलवे सहलाये।"

इसपर वे कहने लगे, "भाई, यह मेरा क़सूर तो है नहीं। मैं आज पंडिताई छोड़ दूँ तो ये किसी दूसरे ब्राह्मणके तलवे सहलायेंगे। इन लोगोंके बाप, दादा, परदादा और उनके भी पूर्वज मेरे बाप, दादा और पूर्वजोंके चरण छूते थे। यह चरण छूनेका संस्कार तो इनमें आजसे नहीं, अनगिनती सदियोंसे जड़ पकड़े हुए है! आज सिर्फ मेरे तोड़ देने पर तो टूट नहीं जायगा। मेरी व्यक्तिगत भावनाके बारेमें पूछते हो तो मैं सच कहता हूँ कि जिस वक्त वे लोग मुझे प्रणाम कर रहे थे, मैं शर्मके मारे पानी-पानी हुआ जा रहा था। मेरा तो भई, यह ख़याल है कि मानवका मानवके आगे तो क्या, देवताके आगे झुकना भी दासताका परिचायक है।"

पंडितजीके इस उत्तरसे मेरा अन्तर्द्वन्द्व शान्त न हो सका।

(४)

एक और चित्र है, जो कुछ धुँधला हो चला है। बहुत पुराना।

मैं उन दिनों बेकार था। यू० पी०के एक शहरकी छावनीमें निठल्ला फिरा करता था। एक दिन सड़कके किनारे फुटपाथपर होकर कहीं जा रहा था। किसीने पीछेसे आकर मेरे कोटसे नीचे निकले हुए कमीज़के सिरेको पकड़ कर खींचा। मैंने मुड़कर देखा तो सात आठ वर्षकी एक अँग्रेज लड़की थी। शायद पासके बँगलेमें उसके मां-बाप रहते थे। वह अंग्रेज थी, इसलिए मैंने अंग्रेज़ीमें ही उससे पूछा, "What do you want, baby ?" (बच्ची, तुम क्या चाहती हो ?)

मेरे प्रश्नके उत्तरमें उसने कहा, " Why did not you salute me, (तुमने मुझे सलाम क्यों नहीं किया ?)

" Well, why should I ?" मैंने पूछा (मैं क्यों तुम्हें सलाम करता—भला ?)

तो उसने क्या उत्तर दिया, जानते हैं आप ? उसने कहा—"You must salute me, because Munnoo salute me every day and you are also a Munnoo."

(तुम्हें चाहिए था कि मुझे सलाम करते, क्योंकि हमारा मुन्नू मुझे

रोज सलाम किया करता है। और तुम भी तो एक मुन्नू ही हो।)

यह मुन्नू शायद उसके बापका बेरा या खानसामा था। मुझे भी एक दूसरा 'मुन्नू' कहनेका मतलब शायद उसका यह था कि मुन्नू भी मेरी ही भाँति एक 'काला आदमी' था।

आखिर मैंने उस लड़कीको सलाम किया और यह सोचता हुआ वहाँसे चल दिया कि आँखें खुलनेसे लेकर अब तक वह ऐसे वातावरणमें पली है जहाँ मुन्नूके दूसरे भाई उसे बन्दगी किया करते हैं; इसीलिए मुन्नू जैसे एक और काले आदमीका सलाम न करना उसे खटकता है। यह भी तो एक संस्कार ही है।

मेरा प्रश्न

तब मैं पूछता हूँ कि उस लड़केमें जो बिना प्रयोजन मुझे मालिक कहकर 'राम-राम' करता है, उस लँगड़े देहातीमें जो सिरमें चोट लगनेपर भी फरियाद करनेका साहस नहीं कर सकता, और पंडितजीके उन यजमानोंमें जो सदियोंसे ब्राह्मण कहानेवाले एक मनुष्यके आगे झुकते आये हैं, ऐसा कौनसा सामान्य संस्कार जड़ पकड़े हुए है जो उन्हें मनुष्य नहीं बनने देता?

और मैं पूछता हूँ कि आनेवाले युगमें—उस युगमें जिसका उज्ज्वल अग्रभाग इस समय भी, भविष्यकी क्षितिज-रेखापर साफ-साफ चमकने लगा है—जागृतिके उस युगमें जब धन, साधनों तथा उत्तरदायित्वका समान बँटवारा होगा—जब शक्ति एक जगहपर एक व्यक्ति अथवा अल्प-संख्यक व्यक्तियोंमें केन्द्रित न होकर अधिकसे अधिक व्यापक होगी—जब हममेंसे प्रत्येक प्रकाशके लिये परमुखापेक्षी न रह कर स्वयं ही प्रकाशपुंज बननेका प्रयत्न करेगा—ऐसे अवश्यंभावी युगमें—मैं पूछता हूँ कि क्या ये लोग अपने हिस्सेमें आई हुई शक्तिका भार वहन कर सकेंगे?

जिनकी बुद्धि, मन और नेत्रोंपर शताब्दियोंके कुसंस्कार, दीनता, दासता और दुर्बलताने परदा डाल रखा है—क्या वे लोग मानव-इतिहासके उस शुभ प्रातःकालके सौभाग्य-पूर्ण स्वाधीनता-सूर्यके दर्शन भी कर सकेंगे? मैं पूछता हूँ।

———

शिवनन्दन

(१)

एडगर वालेसके जासूसी उपन्यासोंमें कई मनुष्यरूपी पिशाचोंका प्रसंग पढ़ा था कि उनका रंग कुछ हरापन लिए होता था। शिवनन्दनके चेहरेकी ओर दृष्टि जाते ही मुझे तो एडगर वालेसके उस पात्रकी याद आ गई, जो आधी रातको लोगोंका गला घोंटने बाहर निकलता था और कहता था—'मैं बोसनियाका राजा हूँ, तुम मेरे विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहे हो।' किन्तु जीवनमें सबसे बड़ा आश्चर्य भी मुझे तभी हुआ, जब मैंने देखा कि उस दानवी मानवके अन्दर हृदय नामकी एक तिकोनी मशीन भी है, और वह उससे कहीं ज्यादा सुकुमार है, जो साधारणतया अन्य लोगोंको मिला करती है।

शिवनन्दन एक फ़ौजी लंगरमें काम करता था। उसका पेशा था भोजन बनानेका। उसके साथ कई और लांगरी भी थे। उसे एक ही काम बट्टेमें मिला था। वह था रोटियाँ बेलना। सिवा इसके शिवनन्दनने अपनी पन्द्रह वर्षकी बावर्चीगीरीमें और कुछ भी नहीं सीखा। इतने वर्षोंमें वह यह भी न जान पाया था कि सेर-भर अरहरकी दालमें कितना नमक डालना चाहिए। लगातार पन्द्रह वर्षोंसे शिवनन्दन रोटियाँ बेलनेका ही काम करता आया था। इसमें उसने ऐसी पूर्णता प्राप्त कर ली थी कि दाँतों-तले अँगुली दबानी पड़ती थी। अर्जुनकी बाण-विद्याके बारेमें कई बार महाभारत-में पढ़ा था। विस्मय होता था कि कैसे कोई मनुष्य अध्ययनमें इतनी एकांगी एकाग्रता प्राप्त कर सकता है कि निशाना लगाते समय पक्षीके गलेके अतिरिक्त उसका सिर भी न देख सके। परन्तु मुझे मालूम हुआ कि चौथाई जीवन

लंगरमें व्यतीत होनेपर भी शिवनन्दन दाल पकाना नहीं जानता और रोटियाँ बेलनेकी फुर्तीमें दूसरा कोई उसकी बराबरी नहीं कर सकता। तब तो मुझे विश्वास हो गया कि अर्जुनकी धनुर्विद्याके विषयमें एक भी शब्द मैंने झूठ नहीं पढ़ा था।

शिवनन्दनसे मेरी जान-पहचान होना कोई महत्त्व नहीं रखता; किन्तु उससे घनिष्ठता हो जानेका कारण मैं अवश्य बताऊँगा। एक दिन लंगरमें जाकर मैंने उसे रोटियाँ बनाते देखा। उसकी फुर्ती और एकाग्रता देखकर मैं तो सकतेमें आगया था। सामने बहुत सारी आटेकी लोइयाँ बनी रखी थीं। एक पूरी प्लाटूनके सिपाहियोंका भोजन शिवनन्दनके लंगरमें बनता था। मैं जाकर सम्मुख खड़ा हो गया। रोटियाँ बनानेकी कलाका मैं निरीक्षण करना चाहता था। मुझे अपने निकट खड़ा हुआ भी उसने नहीं देखा।

शिवनन्दनसे करीब पन्द्रह फीटकी दूरीपर एक विशालकाय तवा गरम हो रहा था। पास तिपाईपर एक दूसरा लांगरी बैठा था। मैंने सोचा, इतनी दूर बैठकर रोटियाँ बनानेकी इन्हें क्या सूझी! बार-बार एक-एक रोटी लेकर तवे तक जाना, फिर वापस आकर दूसरी बेलना, यह तो केवल समय नष्ट करना है। मैं यह सोच ही रहा था कि उसी समय शिवनन्दन लोइयाँ बनाना समाप्त करके बोला—'अच्छा तैयार।' उसने एक लोई उठाई। अँगुलियोंमें दबाकर उसे चपटा किया। फिर उसे तर्जनीपर रखकर दो-चार बार तेजीसे घुमा दिया। उसके बाद उसकी अँगुली परसे टीनके चक्रकी भाँति कोई चीज उड़ी और पन्द्रह फ़ीट दूर तवेपर हल्केसे जा बैठी। मैंने देखा, एक अच्छी तरह बेलकर तैयार की हुई रोटी थी। सेंकनेवालेने उसे चिमटेसे उठाकर पलट दिया। मेरी दृष्टि तवेपर ही थी। एकके बाद दूसरी रोटी हवामें उड़ती हुई आ रही थी और तवेपर हल्केसे जाकर बैठ जाती थी। इतनी तेजी और सफ़ाईसे रोटियाँ गिर रही थीं कि क्या मजाल कि एक रोटी दूसरीसे छू जाय या आकर दूसरीके ऊपर जा बैठे।

मैंने उधरसे आँखें हटाकर शिवनन्दनको देखा। वह तो मशीन बना हुआ था। इतनी फुर्ती कि आँखें नहीं ठहरती थीं। लोई उठाई, चपटी की, घुमाया और फेंक दिया। केवल फेंकते समय वह एक क्षणके लिए तवेकी ओर देख लेता था। मैं तो अपना सिर दोनों हाथोंसे पकड़ कर चुपचाप वहीं बैठ गया।

प्रयत्न करने पर भी दूसरी ओर आँखें नहीं फेर सका। दो घंटे लगातार मैं वैसे ही बैठा रहा और दो घंटे तक सामने बैठे हुए व्यक्तिको शिवनन्दन आँखें होने पर भी नहीं देख सका। लोइ याँ चुक गईं। वह पसीना-पसीना हो गया था। साँस तेजीसे चल रही थी। उसने आटा-सने हाथसे ही अपनी भौंहोंपरसे पसीना पोंछ लिया। फिर एकाएक सामने ही मुझे देख कर हड़-बड़ा गया—'अरे आप, अरे आप! यहाँ बैठे हैं! अरे, राम-राम! अरे, वहाँ बैठो, बाबू! वह कुर्सी लो।'

वह उठा। आटा-सने हाथसे ही मेरे नए सिल्कके कोटकी बाँह पकड़कर मुझे लंगरकी दूसरी ओर घसीट ले चला। अबकी दूसरे हाथसे मेरी दूसरी आस्तीन पकड़कर उसने मुझे एक कुर्सीपर बैठा दिया। बोला—'आपके लायक़ सीट यह है। वहाँ बैठे थे, राम-राम! अपनी हैसियतका जरा तो खयाल किया होता।' सिल्कके नए कोटकी दोनों आस्तीनोंपर आटे और पसीनेकी मुहरें लगाते समय उसे मेरी हैसियतका खयाल था या नहीं, मैं आज भी नहीं जान सका।

मैंने अपने विचार उसपर प्रकट नहीं किए, वरना उन्हें सुनकर उस जैसा कुन्दजेहन व्यक्ति क्या समझता, मैं नहीं कह सकता। उस मनुष्य-रूपी गोरिल्लाके आगे उनका क्या मूल्य हो सकता है, यही सोचकर मैं चुप हो रहा। वह हाथ धोकर मेरे पास आकर बैठ गया, तो मैंने कहा—'शिबनन्दन भाई, क्या मेरी एक बात मानोगे, एक मामूली-सी बात?'

गोल बटनों-सी दो आँखें मेरे चेहरेपर गड़ाकर वह बोला—'कहिए, कौन-सी बात है? आपका कहना न मानूँ, भला यह भी हो सकता है!'

'अच्छा, तो मुझे अपनी ही तरह रोटियाँ बनाना सिखा दो।'

अबकी उसकी दोनों आँखें ऐसी लगीं, मानो अभी बाहर निकल पड़ेंगी! नारियलके रेशों-सी उसकी मूँछें जरा हिलीं, उनके भीतरसे सफ़ेद बिजली-सी चमकी और सारी-की सारी पहाड़-सी देह हिलाकर वह हँस पड़ा। उसके अट्टहास-के मारे लंगरकी दीवारें कहीं हिल न गई हों, मुझे तो यही संदेह था। वह बोला—'अरे, आप रोटी बेलेंगे! अरे,आप!'

इसके बाद कई दिन बीत गए। शिवनन्दनका विस्मय यथार्थमें बदल गया और उसकी हिचक स्वीकृतिमें। मैं सचमुच ही दूसरे दिनसे नियत समय-पर लंगरमें जाने लगा। शिवनन्दनसे तय हुआ कि मैं उसे अक्षर-ज्ञान कराऊँ और वह मुझे रोटी बनाना सिखाए। किन्तु अखीर तक हम दोनों अपने-अपने

उद्देश्यकी प्राप्तिमें असफल रहे। न वह मेरी विद्या सीख सका और न मैं उसकी। एक-दूसरेको खीझ-खीझकर मन्दबुद्धि होनेका दोष देते रहे। इस होड़की भावनाने हमें एक-दूसरेके पर्याप्त निकट ला दिया था। मैं सोचता था कि जिस काममें शिवनन्दन इतनी निपुणता प्राप्त कर सकता है, वही मेरे लिए असम्भव कैसे बन गया? इसपर वह कहता—'भाई मास्टर, यह कोई स्कूलकी पढ़ाई थोड़े ही है कि इम्तहान दिया और पास हो गए। पन्द्रह सालसे मैं यही कर रहा हूँ। सिवा इसके दूसरा काम मुझे अच्छा नहीं लगता। अब तुम कहो कि महीने दो महीनेमें तुम भी इस काममें उस्ताद बन जाओ, सो कैसे हो सकता है, बताओ तो?'

मैंने कहा—'बात एक ही है। तुम स्कूलकी पढ़ाई नहीं कर सकते और मैं रोटी बेलना नहीं सीख सकता। तुम केवल मुझे ही मूर्ख होनेका दोष दो, यह तो ठीक नहीं।'

'नहीं, नहीं, मैं दोष कब देता हूँ? मेरे कहनेका तो मतलब है कि हर-एक आदमी हरएक काममें होशियार नहीं बन सकता।'

मैं बोला—'पढ़े लिखे व्यक्तिकी तो बात ही दूसरी है। यह ऐसी विद्या है, जो बुद्धिकी चीज़ है। तुमने जो अपने काममें असाधारणता प्राप्त की है, यह सदा रहनेवाली वस्तु नहीं। तुम पढ़े-लिखे लोगोंसे होड़ लेने लगो, यह कैसे हो सकता है?

मैंने प्रच्छन्न ईर्ष्यावश ही यह कहा था। मुझे लगा कि शिवनन्दन अपने कामके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं सीख सका, यह भी एक गुण ही है। मनकी एकाग्रता ही इसका दूसरा कारण है। वह मेरे तात्पर्यको न समझकर बोला—'क्या नहीं हो सकता?'

'यही कि अपने काममें तुम्हें जो फुर्ती मिली है, यह जीवन-भर तो रहेगी नहीं। कोई दिन ऐसा भी आसकता है, जब तुम दूसरे लांगरियोंकी भाँति हथेलियोंसे पीट-पीटकर रोटियाँ बनाने लगो।'

वह बोला—'ऐसा दिन जब आयगा, उसी रोज़ मैं मर जाऊँगा, मास्टर!'

(२)

लांगरमें नियमित रूपसे जानेकी मुझे लत-सी पड़ गई थी। उस दिन

भी मैं सायंकालके समय वहाँ पहुँच गया। शिवनन्दन अपने स्थानपर बैठा हुआ था। लोइयाँ बन चुकी थीं। रोटियाँ बनानेकी तैयारी थी। उसका शिष्य बननेका जो उत्साह था, उन दिनों मन्द पड़ गया था। मैं कुछ दूर लकड़ीके एक तख्तपर बैठ गया और देखने लगा। मुझे लगा, आज शिवनन्दन कुछ अन्यमनस्क हो रहा है। देखकर भी उसने प्रतिदिनकी भाँति तपाकसे मेरा स्वागत नहीं किया। केवल सूखी विकृत हँसी हँसकर ही रह गया। मैंने नहीं पूछा कि क्या बात है।

पहली लोई उठाते समय ऐसा लग रहा था कि आज रोटी बनानेकी उसकी किंचित् भी इच्छा नहीं है। सिर एक ओर लटकाकर, झूमते हुएसे उसने एक लोई उठाई, कुछ देर उसे देखता रहा, फिर चपटी करके उसे घुमाया और फेंक दिया; परन्तु रोटी ठीक स्थान तक न पहुँचकर तवेकी कोरसे जा लगी और लटक गई। आटा गीला था, इसलिए लटकता हुआ भाग खिंचकर नीचे टपक पड़ा। सेंकनेवाला लांगरी बोला—'क्या बात है शिब्बू, आज तुझे क्या हो गया है?'

शिवनन्दनने शरमाई हुई कनखियोंसे पहले मेरी ओर देखा, फिर दूसरेको उत्तर दिया—'क्या बताऊँ, कुछ समझमें नहीं आता।'

दूसरी लोई ली। परन्तु अबकी घुमाते समय वह तर्जनीसे ही चिपक गई और अँगूठीकी भाँति छिदकर अँगुलीकी जड़से आ लगी। शिवनन्दनने झल्लाकर दूसरे हाथसे आटा अलग किया। मैंने पूछा—'आटा गीला हो गया दीखता है?'

'नहीं, गीला तो नहीं है।'

'फिर क्या बात है?'

'पता नहीं।'

उसने कई लोइयाँ इसी तरह बिगाड़ दीं; किन्तु अपने ढंगसे वह एक भी रोटी न बना सका। लंगरमें जितने लांगरी थे, सब आश्चर्यमें आ गए। अन्तमें वह खीझकर उठ बैठा और हेड लांगरीसे बोला—'आज मुझसे काम न होगा। किसी दूसरेसे कहिए। मेरी तबीयत ठीक नहीं है। मुझे आजकी छुट्टी चाहिए।

वह मेरे पास आकर तख्तपर बैठ गया। हाथोंमें लगे आटेको मींज-मींजकर छुड़ाता रहा। बोला नहीं। दृष्टि अचल होकर फर्शपर लगी रही। स्वाभाविक फुर्ती और प्रसन्नता जाने कहाँ उड़ गई थी। मैंने पूछा—'शिवनन्दन, क्या तबीयत बहुत खराब है?'

उसने उत्तर नहीं दिया। फर्शपरसे आँखें नहीं हटाईं। हाथोंपरसे आटा निकल जानेपर भी वह उन्हें मींजता रहा। मेरी समझमें न आया कि बात क्या है। ऐसी कौन-सी घटना हो गई है, जो शिवनन्दन-जैसे व्यक्तिपर भी अपना प्रभाव डाल सकी है। बहुत समय तक वह उसी भाँति निश्चल, निःशब्द बैठा रहा। फिर अचानक लम्बी साँस लेकर वह उठा और मेरे सामने खड़ा होकर बोला—'कहीं घूमने चलोगे, मास्टर?'

'घूमने?'

'हाँ। चलोगे?'

'लेकिन तुम्हें तो मैंने कभी लंगरसे बाहर निकलते तक नहीं देखा। आज घूमनेकी कैसी सूझी?'

वह शुरूसे ही झल्लाया हुआ था। बिदककर बोला—'चलते हो या नहीं, एक जवाब दो।'

स्वरकी तीक्ष्णतापर मैं तो सन्नाटेमें आ गया। मैंने उसकी आँखोंमें देखा। वहाँ क्रोध या खीझ नहीं थी। एक गहरे विषाद और नैराश्यकी श्यामल बदली उमड़ती वहाँ दिखाई दी। मैं चटपट बोल उठा—'चलो बाबा, चलो। मैंने ना कब कहा था?'

दोनों चल पड़े। नहर पारकर हम लोग कैन्टोनमेण्टकी सीमासे बाहर हो गए। दस-बारह खेतोंको पारकर हम एक नए कुएँके पास पहुँचे। आस-पास आमोंकी एक छोटी-सी बगिया थी। एक किसान अभी-अभी रँहट चलाना बन्दकर बैलोंको लिये घरकी ओर चला जा रहा था। कुछ दूरपर उसका गाँव था, जिसकी घास, फूस और खपरैलकी छतें, सन्ध्याकी झुटपुटमें आधी खोई हुई-सी दीख रही थीं। कुएँकी जगत्पर हम दोनों बैठ गए। शिवनन्दन बड़ी देर तक अधखुली आँखोंसे दूरके खेतोंको देखता रहा। फिर एक लम्बी साँस लेकर बोला—"जानते हो, मास्टर, मैं भी घरका

किसान हूँ।'

मैंने उसकी ओर देखा और झेंप गया। पता नहीं क्यों, यह विचार मुझे बार-बार चुभने लगा कि महीनोंतक इतना नैकट्य होनेपर भी मैंने आज तक शिवनन्दनके निजी जीवनके बारेमें जानना नहीं चाहा। बल्कि उसके विषयमें अधिक ज्ञान प्राप्त करनेका मैंने प्रयत्न ही नहीं किया। उसकी बात सुनकर मैंने पूछा—'तुम्हारा घर कहाँ है?'

'ज़िला आल्मोड़ेमें। आल्मोड़ा खाससे १६ मील उत्तरमें मेरा गाँव है। मैं जातिका ब्राह्मण हूँ।'

'बाल-बच्चे तुम्हारे वहीं हैं?'

'हाँ, एक औरत थी, जो अन्धी थी। दो लड़कियाँ—नहीं, तीन लड़कियाँ हैं मेरे।'

'तुम्हारी स्त्री अन्धी थी! कहते क्या हो?'—मैंने विस्मयसे पूछा।

'हाँ, अन्धी, और वह भी दोनों आँखोंसे!'

'घरपर उसकी देख-भाल कौन करता था?'

'बड़ी लड़की है, उसकी उम्र होगी चौदह सालकी। वही करती थी।'

'विवाह किये कै साल हो गये तुम्हें?'

'सोलह साल।'

'ब्याह होनेके कितने वर्ष बाद तुम्हारी स्त्री अन्धी हुई थी?'

होठोंके कोने ज़रा-से फैलाकर शिवनन्दनने कहा—'वह तो जन्मसे ही अन्धी थी, मास्टर!' शादी होनेके बाद भला मैं क्यों उसकी आँखें फूटने देता!'

'तो, तुमने अन्धी लड़कीसे आखिर क्यों शादी की?'

'नहीं तो किससे करता? मुझ-जैसेको इन्द्रकी परी कहाँ मिलती?'

'न मिलती, तो न सही। अन्धीको ब्याहकर लानेसे तो अच्छा था कि तुम शादी ही न करते।'

वह बोला—'हाँ, तुम कहते हो, सो ठीक है; लेकिन आदमी बेवकूफी भी करता है, तो समझ-बूझकर करता है। मैंने अन्धीसे शादी इसलिए की कि मुझे एक औरत चाहिए थी। औरतें तो वैसे पचासों हैं; पर मुझे ऐसी औरतकी ज़रूरत थी, जिससे पैदा हुआ बच्चा मेरा लड़का कहलाए, औरतका लड़का

नहीं। समझे?

'मैं तो कुछ .. .. समझा।'

'नहीं समझे? अच्छा, तो मैं आज तुमसे सारी बातें कहता हूँ। ध्यान-से सुनना। आज रोटियाँ बनानेमें मेरे हाथोंने जवाब दिया था। जानते हो, क्यों?'

'नहीं।'

'तो सुनो।'

और शिवनन्दनने दो घण्टेमें अपना जो इतिहास सुनाया, उसे मैं संक्षेपमें दोहरा दूँ, तो अधिक उपयुक्त होगा। शिवनन्दनके बचपनमें ही उसके माँ-बाप मर गये। निःसन्तान चचाने उसे पाला-पोसा। वह जब सोलह वर्षका हुआ, तो चचा भी मर गये। शिवनन्दनको अपनी और चचाकी मिलाकर इतनी भूमि और कुछ नक़दी भी मिल गई थी कि यदि वह निरा काठका उल्लू न होता, तो आनन्दसे जीवन बिता सकता था। लेकिन वैसा हुआ नहीं। रूप, ढंग और बुद्धिमें वह हीन था ही। उसके साथी लड़के उससे घृणा करते और उसकी अमानुषी आकृतिसे कोसों दूर भागते थे। साथी-संगियोंसे रहित, मातृ-हीन, पितृहीन, मन्दबुद्धि, असुन्दर शिवनन्दनको एक ओरसे थोड़ा-सा आकर्षण मिला—वह स्थान था जुआरियोंका अखाड़ा। उसने देखा, अपने नीरस जीवनमें रस लानेका इससे बढ़िया और कोई साधन नहीं है। वह जुआ खेलने लगा। शिवनन्दनको आनन्द तो आया। परन्तु दस साल बाद उसे मालूम हुआ कि इस आनन्दकी प्राप्तिमें जो कुछ चला गया है, वह थोड़ा नहीं है। बाक़ी बचे हुए खेतोंसे उसकी गुज़र किसी भी भाँति नहीं हो सकती। तो उसने सोचा कि इन दोनों खेतोंको भी बेचकर कहीं चल दूँ। गाँवमें निर्धन होकर रहनेकी कुबुद्धि शिवनन्दन जैसे व्यक्तिको भी अच्छी नहीं लगी।

इसी अवसरपर, २६ वर्षकी अवस्थामें, उसके जीवनमें ऐसी घटना घटी कि उसका कार्यक्रम ही पलट गया। सुना कि उसके एक मात्र मामा निःसन्तान ही मर गए हैं और अपने पीछे कई हज़ारकी मिलकियत छोड़ गए हैं। किन्तु शर्त यह थी कि यह सम्पत्ति शिवनन्दनको नहीं दी जाकर उसके लड़के-को दी जायगी। अतः अब शिवनन्दनको विवाह करनेकी सूझी, नहीं तो

लड़का कैसे होता ! किन्तु यह खिलवाड़ नहीं था। उसे लड़की भला कौन देता ? लोग कहते—'तुम-जैसे निकम्मे जानवरको लड़की देनेसे अच्छा है कि उसे फाँसी देकर मार डालें !' अब क्या करे शिवनन्दन ? मामाकी सम्पत्ति न मिलनेके मानी थे उसका कौड़ी कौड़ीसे मोहताज होकर भीख माँगते फिरना ! अन्तमें बड़े प्रयत्नोंके बाद एक लड़की मिली; परन्तु थी वह दोनों आँखोंसे अन्धी! पर शिवनन्दनको इससे क्या ? उसे तो चाहिए थी एक औरत, जो लड़का पैदा कर सके। बस, अगले बैसाखमें बिना बरातके, बिना बाजे-गाजे और धूम-धामके शिवनन्दनका विवाह हो गया। दूसरे ही महीने वह पल्टनमें लांगरी बन गया। अपनी नवोढ़ा, चक्षुहीना, षोड़शी वधूको अपने साथ ही लेता आया।

दो वर्ष पश्चात् शिवनन्दनकी बहूने एक सन्तानको जन्म दिया। अन्धी माँने दाईसे पूछा—'क्या हुआ, लड़का ?' जब दाईने इस प्रश्नका उत्तर एक छोटा-सा निरपेक्ष 'नहीं' कहकर ही दिया, तो बेचारीके हृदयमें ऐसी हूक उठी कि वह यह पूछना भी भूल गई कि लड़का नहीं तो क्या लड़की हुई है, या...? शिवनन्दनने समझा, चलो तक़दीर ही है। जैसे जुएका एक दाँव। इस बार हार गये, तो अगली बार जीतेंगे। नौकरी करते ही हैं। कोई कष्ट है भी नहीं। परन्तु लड़की उत्पन्न होनेके बाद पत्नीको ऐसा रोग हो गया कि वह कई वर्षों तक फूलने फलने योग्य न हो सकी। चिकित्सा कराते-कराते शिवनन्दन सचमुच निराश होने लगा था। एक दिन उसे पता लगा कि चिकित्सा सफल हो गई और उसकी पत्नी कुछ ही महीनोंमें लड़का पैदा करेगी। शहरसे एक कुशल दाई बुलाकर जाँच कराई। सन्तोष हुआ कि पेटमें लड़का है, लड़की नहीं। सातवें महीने १०) फीस देकर एक नामी डाक्टरसे अपनी धारणाओंकी पुष्टि दिलाई और दस महीने बाद एक दिन शिवनन्दनकी द्वादशवर्षीया लड़की फुदकती हुई लंगरखानेमें आई और बोली—'बाबू, घर चलो, बिटिया हुई है। चलो देखो।'

शिवनन्दनको लगा कि लड़की जान-बूझकर उसे चिढ़ा रही है। बोला—'धत्, झूठी कहींकी। ऐसा क्यों नहीं कहती कि भैया हुआ है।' किन्तु सत्यसे कब तक आँखमिचौनी खेली जा सकती है ! दूसरी बार भी शिव-

नन्दनको यही कहकर साँस लेनी पड़ी—'अच्छा अगला दाँव सही। देखें कब तक तक़दीर नहीं चेतती!'

शिवनन्दनने देवी-देवताओंकी मनौती प्रारम्भ कर दी। गाँवके छोरपर काली माईके मन्दिरमें इक्कीस गण्डे चढ़ानेकी प्रतिज्ञा की। मामाकी सम्पत्ति मिलनेपर उसका सोलहवाँ भाग दान करनेका संकल्प किया। दो साल बाद स्त्रीके गर्भ रहा तो शिवनन्दन छुट्टी लेकर उसे गाँव पहुँचा आया। बोला—'क्या जाने, देशका पानी ही ऐसा हो। अपने पुरखोंके गाँवमें रहकर ही कल्याण होगा, वरना नहीं।'

रात हो गई थी। हम लोग कुएँकी जगतपर ही बैठे थे। अन्धकार काफी था। मैं शिवनन्दनके मुँहके भाव नहीं देख पाता था। वह बोला—'तुम्हें याद है, मास्टर, उस दिन तुमने कहा था कि रोटी बनानेका जो हुनर मुझमें है, एक दिन नहीं रहेगा। इसपर मैंने कहा था कि जब ऐसा होगा, तब तक मैं मर जाऊँगा। तुम्हें याद है कि नहीं?'

मैंने उसका तात्पर्य न समझ सकनेके कारण कोई उत्तर नहीं दिया। वह कहता ही गया—'लेकिन देखो तो तक़दीरका खेल—ठीक पाँसेके दाँवकी तरह। आज तुमने देख ही लिया है कि मैं अपनी सारी फुर्ती और हाथकी सफ़ाई भूल गया हूँ; लेकिन मैं ज़िन्दा हूँ, मास्टर! हा-हा-हा-हा।'

आसपासका अन्धकार उसके अट्टहाससे काँप गया। मुझे तो रोमांच हो आया। मैं सिहर उठा। अँधेरेमें आँखें गड़ाकर उसकी ओर देखा। पूछा—'आज क्या हुआ, जो तुम इतने उदास थे?'

'आज मेरी बड़ी लड़की श्यामाकी चिट्ठी आई है। उसने लिखा है कि घरमें तीसरी बिटिया हुई है। और इससे पहले कि वह जमीनपर पाँव रखे, उसकी माँ बिना मुझसे पूछे ही उस ओर चली गई है जहाँसे मेरे बाप दादा भी उसे लौटा नहीं सकते! समझे कि नहीं मास्टर? मास्टर, तुम समझे कि नहीं?'—उसने अपनी पत्थरकी अँगुलियोंसे मेरी पसलियाँ खोदकर पूछा।

मैंने चिहुँक कर कहा—'क्या है भाई, क्या कहते हो?'

'तुम समझे कि नहीं?'

'हाँ, समझ गया हूँ।'

लौटते समय जब हम घरके निकट पहुँचने लगे, तो एक प्रश्न छाती चीरकर बाहर निकल आया। मैं नहीं जानता, इसका कारण क्या था। मैंने पूछा—'अब क्या होगा, शिवनन्दन?'

वह ठिठक कर खड़ा हो गया। गोल बटनों-सी दोनों आँखें निकालकर उसने मुझे देखा और हँसने लगा। बोला—'होगा क्या? यह भी अच्छी रही! होगा क्या, क्यों अब क्या होना बाक़ी है? और होना ही क्या था? तुम भी पूरे बुद्धू हो मास्टर।'

मैंने आकर घरमें सोचा, सचमुच ही मैं बुद्धू हूँ। मैंने वैसा प्रश्न किया ही क्यों? उसकी आवश्यकता ही क्या थी?'

पाँचवें दिन उसने मुझे बुला भेजा। जाकर देखा, एक ट्रंक और बिस्तर-का बंडल बाँधकर वह मेरी प्रतीक्षा कर रहा है। मैंने पूछा—'जा रहे हो, शिवनन्दन?'

'हाँ, चार महीनेकी छुट्टी ले ली है। जाते समय सोचा कि स्टेशन तक छोड़ने तुम्हें आना चाहिए, इसलिए बुला भेजा।'

रास्ते-भर तांगेमें हम लोगोंकी बातचीत नहीं हुई। मुझे लगता था, मैं कोई भारी दुःखद बात उससे कहने जा रहा हूँ। बात गले तक आती थी और बोझ बनकर फिर डूब जाती थी। वह भी शायद इसी प्रकारकी उधेड़ बुनमें लगा हुआ था। मैंने कई बार कनखियोंसे उसे देखा। वह बार बार आधा मुँह खोलता था, मानों कुछ कहने जा रहा हो; फिर स्प्रिंग लगे किवाड़ोंकी भाँति उसके होंठ बन्द हो जाते थे।

स्टेशन पहुँच कर उसने टिकट लिया। गाड़ी आई। वह बैठा। उसीके सामने नीचे प्लेटफार्मपर मैं भी खड़ा रहा। गाड़ी छूटनेमें कुछ देर थी। मैंने बोझ सँभालनेके इरादेसे खिड़कीपर अपना हाथ रख दिया। वह भी मानों मेरे ही मस्तिष्कको लेकर सोच रहा था। उसका बोझिल हाथ धीरेसे आकर मेरे हाथके ऊपर सो गया। गार्डने सीटी दी। गाड़ीने उसे दोहराया। एक धक्का लगा। गाड़ी चल दी। मेरा हाथ खिड़कीपर ही था। मुझे लगा, शिवनन्दनका हाथ भारी होता जा रहा है। अबकी उसकी अँगुलियोंने मेरी कलाई पकड़ ली। मैंने छुड़ानेका प्रयत्न नहीं किया। मैं और वह एक ही मस्तिष्कसे सोच रहे थे। गाड़ीके साथ साथ मैं भी तेज होता गया। फिर दौड़ने लगा। शिवनन्दनकी पकड़ और भी दृढ हो गई। सामने ही प्लेटफार्म-का छोर था। एकाएक उसने सिर बाहर निकाल कर कहा—'मास्टर, मैं सोच रहा हूँ कि मैं आज मर गया हूँ।'

उसने मेरा हाथ छोड़ दिया। मैं ठिठक कर खड़ा हो गया। विचारोंकी शृंखला टूट गई। गाड़ी बहुत दूर चली गई थी। मेरे मनने मुझसे कहा—'तुम्हें तुम्हारे प्रश्नका उत्तर तो मिल गया, अब घर चलो न?'

समाप्त